प्रवचन 12. अंतिम जिज्ञासा: क्या है मोक्ष, क्या है संन्यास

सूत्र
श्री मद्भगवद्गीता (अथ अष्टादशोउध्ण्याय)

अर्जुन उवाच:

संन्यामस्य महाबाहो तत्त्वीमच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।1।।
भगवानवाच:

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व कर्मफलत्यागं प्राहुस्मागं विचक्षणाः।।2।।
त्याज्यं दोष्वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतयकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।3।।
अर्जुन बोला, हे महाबाहो, हे हषीकेश, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक— पृथक जानना चाहता हूं।

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्री भगवान बोले, हे अर्जुन, कितने ही पंडितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्याम जानते हैं और कितने ही विचक्षण अर्थात विचार कुशल पुरुष सब क्रमों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

तथा कई एक मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त है, इसलिए त्यागने के योग्य हैं। और दूसरे विद्वन ऐसा कहते हैं कई यज्ञ, दान और तप लय कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

कृष्ण की गीता का अंतिम अध्याय आ गया। जो शुरू होता है, वह समाप्त भी होता है। कृष्ण जैसे अनूठे पुरुषों के वचन भी अंत पर आ जाते हैं। उनके द्वारा भी जिन शब्दों का उच्चार होता है, वे भी पानी पर खींची गई लकीरें सिद्ध होते हैं। कृष्ण भी उसे नहीं बोल पाते, जो कभी समाप्त न होगा। बोलने में वह आता ही नहीं।

जो भी बोला जाएगा, शुरू होगा, अंत होगा, उसकी सुबह होगी, सांझ होगी, जन्म होगा, मृत्यु होगी। सभी शास्त्र जन्मते हैं और मर जाते हैं। और सत्य तो वह है, जो कभी जन्मता नहीं और कभी मरता नहीं। सत्य तो शाश्वत है, शब्द क्षणभंगुर हैं।

शब्दों के क्षणभंगुर बबूलों पर सत्य का प्रतिफलन पड़ जाए, इतना काफी है। तुम्हारे शब्द भी बबूले हैं; कृष्ण के शब्द भी बबूले हैं। दोनों ही मिटेंगे। दोनों ही क्षणभंगुर हैं। फर्क इतना है कि तुम्हारे

शब्द पर सत्य की कोई प्रतिच्छाया नहीं पड़ती। कृष्ण के शब्द पर सत्य की प्रतिच्छाया पड़ती है। जैसे पानी के बबूले पर सूरज झलकता हो; इंद्रधनुष खिंच गया हो बबूले के आस—पास, सातों रंग प्रकट हो गए हों। तुम्हारा बबूला, बस बबूला है खाली। बबूला तो कृष्ण का भी बबूला ही है; पर सत्य की छाया है।

तुम्हारी झील में चांद का कोई प्रतिबिंब नहीं है। कृष्ण की झील में चांद का प्रतिबिंब है। यद्यपि झील में बने चांद को चांद मत समझ लेना। झील में खोजने मत लग जाना। नहीं तो खोजोगे तो बहुत, पाओगे कुछ भी नहीं। चांद झील में नहीं है, झील में दिखाई पड़ता है। झील से इशारा सीख लो। झील से समझ लो कि प्रतिबिंब कहां से आ रहा है। इसका मूल उत्स कहां है। फिर झील की तरफ पीठ कर लो और चांद की तरफ यात्रा शुरू कर दो।

कृष्ण ने जो कहा है गीता में, उसमें मत उलझ जाना। न मालूम कितने उस अरण्य में उलझे हैं और भटक गए हैं। कितनी टीकाएं हैं कृष्ण की गीता पर! मैं कोई टीका नहीं कर रहा हूं।

एक अरण्य खड़ा हो गया है कृष्ण के शब्दों के आस—पास। न मालूम कितने लोग जीवन उसी में बिता डालते हैं। वे गीता के पंडित ! हो जाते हैं; कृष्ण से वंचित रह जाते हैं।

गीता थोड़े ही सार है, वह तो झील में बना प्रतिबिंब है चांद का। समझ लेना इशारा और झील को छोड़ देना। यात्रा बिलकुल अलग—अलग है। अगर झील में छलांग लगा ली और चांद को खोजने के लिए डुबकियां मारने लगे, तो तुम टीकाएं ही पढ़ते रहोगे। तब तुम कृष्ण के शब्दों में ही उलझ जाओगे। शब्दों में तो कुछ सार नहीं है।

झील में उतरना ही मत। झील ने तो इशारा दे दिया है ठीक अपने से विपरीत। दिखाई तो पड़ता है प्रतिबिंब झील के भीतर, चांद होता है झील के ऊपर, ठीक उलटा।

शब्द को सुनकर निःशब्द की यात्रा पर निकल जाना। ठीक उलटी यात्रा है। कृष्ण को सुनकर गीता में मत फंसना; कृष्ण की खोज में निकल जाना।

जहां से उठती है गीता, उस चैतन्य का नाम कृष्ण है। गीता तो शब्द ही है; बड़ा बहुमूल्य शब्द है, पर शब्द ही है। हीरा बड़ा बहुमूल्य पत्थर है, पर पत्थर ही है। और इसीलिए गीता का अंत ' आ जाता है; कृष्ण का तो कोई अंत नहीं है।

जो है, उसका कभी कोई अंत नहीं है। सपने ही बनते और मिटते हैं। एक बड़ा प्यारा सपना है, गीता।

सपने में भी दो तरह के सपने होते हैं। एक तो बिलकुल ही सपना होता है, जिससे यथार्थ का कोई भी नाता नहीं होता। और एक ऐसा भी सपना होता है, जिसमें यथार्थ की थोड़ी भनक होती है। सपना तो वह भी है, लेकिन यथार्थ की थोड़ी भनक है। सपने को छोड़ देना, भनक को पकड़ लेना। वह जो यथार्थ का घूंघर बज रहा है धीमा— धीमा, सपने के शोरगुल में उसे ठीक से पकड़ लेना, ताकि शोरगुल में न उलझ जाओ।

कृष्ण ने यह गीता कही, इसलिए नहीं कि कहकर सत्य को कहा जा सकता है। कृष्ण से बेहतर कौन जानेगा कि सत्य को कहकर कहा नहीं जा सकता! फिर भी कहा, करुणा से कहा है।

सभी बुद्ध पुरुषों ने इसलिए नहीं बोला है कि बोलकर तुम्हें समझाया जा सकता है। बल्कि इसलिए बोला है कि बोलकर ही तुम्हें प्रतिबिंब दिखाया जा सकता है। प्रतिबिंब ही सही, चांद की थोड़ी खबर तो ले आएगा! शायद प्रतिबिंब से प्रेम पैदा हो जाए और तुम असली की तलाश करने लगो, असली की खोज करने लगो, असली की पूछताछ शुरू कर दो।

लेकिन अक्सर ऐसा हुआ है कि बुद्ध पुरुषों के वचन इतने महत्वपूर्ण हैं, इतने कीमती हैं, इतने सारगर्भित हैं कि लोग उनमें ही उलझ गए हैं। फिर सदियां बीत जाती हैं, लोग शास्त्रों का बोझ बढ़ाए चले जाते हैं! और बात ही उलटी हो गई। कहा किसी और कारण से था। कहने के लिए न कहा था, न कहने की तरफ इशारा उठाया था। शब्द से भी तुम्हारे भीतर निःशब्द को जगाने की चेष्टा है। बोलकर भी बुद्ध पुरुष चाहते हैं कि तुम न—बोलने की कला सीख लो।

तो पहली बात, कृष्ण की गीता तक का अंत आ जाता है, तो तुम्हारे गीतों का तो कहना ही क्या। वे अंत आ जाएंगे। और जिसका अंत ही आ जाना है, उसमें क्या उलझना! उसमें जितने उलझे, उतना ही समय गंवाया, उतना ही जीवन व्यर्थ खोया। खोजो उसे, जिसका कोई अंत नहीं आता।

शाश्वत है सत्य। सत्य को भी जो जान लेते हैं, वे भी समय की धार में उस सत्य को वैसा ही नहीं ला सकते, जैसा वह अपने में है। समय की धार में लाते ही प्रतिबिंब बन जाता है। समय दर्पण है। शाश्वत उसमें एक ही तरह से पकड़ा जा सकता है, वह प्रतिबिंब की तरह है। इसे थोड़ा समझ लेना।

इसलिए मैं कहता हूं गीता तो इतिहास की घटना है, कृष्ण इतिहास की घटना नहीं हैं। कृष्ण तो पुराण—पुरुष हैं। गीता कभी घटी है, कृष्ण कभी घटते हैं? कृष्ण सदा हैं।

यह गीता का फूल तो लगा एक दिन, सुबह खिला, उठा आकाश में; सुगंध फैली; सांझ मुरझाया और गिर गया। अब फिर बहुत नासमझ हैं, जो उसी फूल पर अटके बैठे हैं। जिन्होंने उसी फूल पर टीकाएं लिखी हैं। उसी फूल के आस—पास सिद्धांतों का जाल बुना है। वे भूल ही गए। यह फूल असली बात न थी। यह तो एक चेष्टा थी शाश्वत की, समय की धारा में प्रवेश की, ताकि तुम तक आवाज पहुंच सके।

बस, यह एक आवाज थी, यह अनंत की पुकार थी कि तुम सुन लो और चल पडो। यह कोई घर बनाकर बैठ जाने का मामला न था। यह तो एक आवाहन था। एक आह्वान था।

लेकिन इस आह्वान को मानकर जाने के लिए तो बड़ी हिम्मत चाहिए। अर्जुन जैसा क्षत्रिय भी बामुश्किल जुटा पाया। जुटाता, बिखर जाता। सम्हालता अपने को, चूक जाता। सब तरफ से उसने भागने की कोशिश की।

लेकिन कृष्ण मिल जाएं, तो उनसे कभी कोई भाग पाया है? भागने का उपाय नहीं है। इसलिए अर्जुन न भाग पाया, अन्यथा अपनी तरफ से उसने सब चेष्टा की थी, सब तर्क लाया।

मनुष्य जाति के इतिहास में उस परम निगूढ़ तत्व के संबंध में जितने भी तर्क हो सकते हैं, सब अर्जुन ने उठाए। और शाश्वत में लीन हो गए व्यक्ति से जितने उत्तर आ सकते हैं, वे सभी कृष्ण ने दिए। इसलिए गीता अनूठी है। वह सार—संचय है, वह सारी मनुष्य की जिज्ञासा, खोज, उपलब्धि, सभी का नवनीत है। उसमें सारे खोजियो का सार अर्जुन है। और सारे खोज लेने वालों का सार कृष्ण हैं।

कृष्ण कभी घटे समय में, इस बात में पड़ना ही मत। ऐसे व्यक्ति सदा हैं। कभी—कभी उनकी किरण उतर आती है; कहीं से संधू मिल जाती है। अर्जुन संध बन गया। प्रेमपूर्ण हृदय ही संध बन सकता है। अर्जुन शिष्य ही नहीं है। वस्तुत: तो शिष्य वह था ही नहीं। क्षत्रिय और शिष्य हो, जरा कठिन है! वह एक ही भाषा जानता है, मित्र की या शत्रु की। और कोई भाषा नहीं जानता। या तो तुम उसके मित्र हो या उसके शत्रु हो। उसका गणित सीधा साफ है, जो मित्र नहीं, वह शत्रु है।

कृष्ण से भी अर्जुन का प्राथमिक नाता मित्र का है। शिष्य तो वह फंस गया। शिष्य होने में तो जैसे उसकी चेष्टा न थी, अनजाने उलझ गया। बात तो उसने ऐसी ही शुरू की थी, जैसे मित्र से पूछ रहा हो।

इसमें थोड़ा समझ लेने जैसा है।

सत्य की खोज की दिशा में एक गहन मैत्री का भाव तो चाहिए ही। का भाव तो तुम्हारे बस के भीतर नहीं है। वह गुरु पैदा करेगा। वह तो तुम्हारा अहंकार कैसे शिष्य हो सकता है प्रथम से! वह इतना भी राजी हो जाए मित्र होने को, तो भी काफी है। इतनी सुविधा दे दे तुम्हें, तो भी बहुत है।

अर्जुन बात तो शुरू किया था मित्र की तरह से, अंत होते—होते शिष्य हो गया। जैसे—जैसे पूछा, वैसे—वैसे मुश्किल में पड़ा। जैसे —जैसे पूछा, वैसे—वैसे कृष्ण का विराट रूप प्रकट होने लगा। जिसको सदा मित्र की तरह जाना था, जिसमें और किन्हीं गहराइयों की खबर ही न थी, जिसमें कभी झांका ही न था, जिसे स्वीकार ही कर लिया था कि अपना मित्र है।

यह भी थोड़ा समझ लेना।

तुमने जिन्हें मित्र ही समझ लिया है, उनके भीतर भी विराट छिपा है। जिनके ऊपरी व्यवहार से ही तुम समाप्त हो गए हो कि तुमने समझ लिया कि परिचित हो गए; गलती मत करना। अगर तुम थोड़े मित्र को संधि दोगे, तो तुम वहीं से विराट को पाओगे, वहीं से कृष्ण की किरण उतर आएगी।

इसलिए गहन मैत्री में धर्म की शुरुआत होती है। प्रेम में प्रार्थना का प्रारंभ है। प्रेम में ही बीज बोए जाते हैं, जो किसी दिन परमात्मा बनते हैं।

यह भी समझ लेने जैसा है कि एक गहन सहानुभूति चाहिए, तो ही समझ पैदा हो सकती है। एक तरह की विवादग्रस्त मनोदशा से समझ पैदा नहीं हो सकती।

अर्जुन ने तर्क तो सब उठाए, पर बड़ा संवादपूर्ण हृदय था। उन तर्कों में कृष्ण को गलत करने की चेष्टा न थी, सिर्फ अपने संशयों की अभिव्यक्ति थी, अभिव्यंजना थी। जब तुम तर्क उठाते हो, तो दो तरह से उठा सकते हो। एक तो कि दूसरे को गलत करने की चेष्टा हो, तब तुमने शत्रुता खड़ी कर ली। संवाद बिखर गया। गीता पैदा न हो सकेगी।

गीत कहीं पैदा होता है, जहां संवाद ही पैदा न हो सके? संवाद का स्वर गीत है। संवाद का समस्वर हो जाना गीत है। जहां दो व्यक्ति एक ऐसी समस्वरता में बंध जाते हैं समाधि की, संगीत की, वहा गीत पैदा होता है।

भगवद्गीता पैदा हुई, उसमें अर्जुन का हाथ उतना ही है जितना कृष्ण का। न तो अकेले कृष्ण से वह हो सकती थी, न अकेले अर्जुन से हो सकती थी। उन दोनों का समतुल हाथ है, वहीं से गीत जन्मा है।

अगर विवाद की दृष्टि हो, तो जिज्ञासा सुंदर नहीं रह जाती, कुरूप हो जाती है। जिज्ञासा जिज्ञासा ही नहीं रह जाती, एक तरा: की शत्रुता हो जाती है। तुम पूछते ही हो गलत सिद्ध करने को। तुम पूछते हो मानकर कि तुम पहले से जानते ही हो।

मित्र भी पूछ सकता है। प्रश्न की शब्दावली एक ही जैसी भी हो, तो भी कोई भूल नहीं होने वाली है। मित्र जब पूछता है, तो वत इसलिए नहीं पूछता कि तुम गलत हो। वह इसलिए पूछता है कि मेरे मन में संदेह है। तुम तो ठीक ही होओगे, मैं ही कहीं गलत हूं। पर यह संदेह मेरे भीतर है, इसका भी मैं क्या करूं?

कल एक संन्यासी मेरे पास आए। उनकी आख में आंसू आ गए और उन्होंने कहा कि कभी—कभी आपके संबंध में भी विरोध के विचार पैदा हो जाते हैं। पर आख में आंसू हैं; पीड़ा है, तब तो यह विरोध का विचार भी अत्यंत प्रेम से भरा है।

मैंने उनसे कहा, फिर होने दो। फिर कोई चिंता नहीं है। आने दो विरोध के विचार को। वह तुम्हें घेर न पाएगा; तुम उसे जीत लोगे। क्योंकि तुम विरोध में नहीं हो, फिर कोई विरोधी विचार कुछ फर्क नहीं ला सकता। लेकिन तुम अगर विरोध में हो, तो विरोधी विचार न भी हो तो भी क्या फर्क पड़ेगा! विवाद तो खड़ा ही है।

अर्जुन के मन में बडे संदेह थे। कृष्ण गुरु हैं, ऐसी भी कोई धारणा न थी। हो भी कैसे सकती है?

बड़ी पुरानी तिब्बती कहावत है कि शिष्य गुरु को नहीं खोज सकता, गुरु ही शिष्य को खोजता है।

बात कुछ जंचती है, बेबूझ होती हुई भी जंचती है। बेक तो इसलिए कि गुरु क्यों खोजने निकलेगा शिष्य को? उसे क्या जरूरत पड़ी है?

उसकी भी जरूरत है। वह जरूरत ऐसे ही है, जैसे मेघ जब जल से भर जाता है, तो बरसना चाहता है, भूमि खोजता है, उत्तप्त भूमि खोजता है।

वह जरूरत ऐसी ही है, जैसे जब फूल गंध से भर जाता है, तो किन्हीं नासापुटों की प्रतीक्षा करता है। हवा के पंखों पर सवार होकर यात्रा पर निकलता है खोजने नासापुट। वह जरूरत वैसी ही है जैसे जब रोशनी जलती है, दीया प्रकाश से भरता है, तो बरसता है चारों तरफ, बटता है।

मोहम्मद ने कहा है कि अगर पहाड़ मोहम्मद के पास न आएगा, तो मोहम्मद पहाड़ के पास जाएगा। जल से भर गया मेघ खोजता है उत्तप्त हृदय को।

बेबूझ इसलिए कि हम सोचते हैं, गुरु को क्या पड़ी है! और बेबूझ इसलिए भी कि शिष्य की ही तलाश है, तो शिष्य को ही खोजना चाहिए। लेकिन फिर भी कहावत सही है।

शिष्य खोजेगा कैसे? उसके पास मापदंड कहां? उसके पास क्या है निकष? कैसे कसेगा? क्या है कसौटी? कैसे करेगा स्वीकार कौन गुरु है? किन चरणों में झुकेगा? किस सहारे झुकेगा? कौन—सा हिसाब है उसके पास? गुरु को जानता तो नहीं, पहचान तो कोई भी नहीं। इस अज्ञात मार्ग पर कैसे निर्णय करेगा कि यहीं छोड़ दूर कर दूं समर्पण इन्हीं चरणों में, हो जाऊं यहीं निछावर। बस, अब आगे कोई मंजिल नहीं, आ गया घर। ऐसी कैसे प्रतीति होगी उसे?

गुरु एक दूसरे जगत में रहता है। वह यहां दिखाई पड़ता है, यहां होता नहीं। उसका शरीर यहां होता है, उसका स्वयं का होना तो बहुत दूर होता है। वह तो ऐसे वृक्ष की तरह है, जिसकी जड़ें जमीन में गड़ी हैं और शाखाएं—प्रशाखाएं आकाश को छू रही हैं। उसके पैर ही यहां हैं। इसलिए तो हम गुरु के पैर छूते हैं, क्योंकि उससे ज्यादा हम पहचान कैसे पाएंगे!

गुरु के पैर छूना बड़ा प्रतीकात्मक है। हम यह कह रहे हैं कि तुम्हारे पैर ही इस संसार में हमें मिल सकते हैं, इससे ज्यादा तो हम तुम्हें यहां न पा सकेंगे। इन पैरों के पार तो तुम किसी और लोक में हो। बस, तुम्हारे हम टटोलकर पैर भी पा लें, तो मार्ग मिल गया, राह मिल गई। फिर हम तुम्हें खोज ही लेंगे। सहारा मिल गया। एक सूत्र हाथ में आ गया, फिर होओ तुम कितनी ही दूर, यात्रा हो कितनी ही लंबी, लेकिन अब भरोसे से हम इस धागे के सहारे चल लेंगे।

लेकिन कैसे पहचानोगे चरणों को? कैसे पहचानोगे गुरु की उपस्थिति को? इसलिए कहावत बेबूझ होती हुई भी ठीक है कि गुरु ही खोजता है।

इसके पहले कि तुम गुरु को चुनो, गुरु तुम्हें चुन लेता है। इसके पहले कि तुम उसकी तरफ चलो, उसकी पुकार तुम्हारे हृदय को खींचने लगती है। इसके पहले कि तुम होश से भरो कि तुम बुला लिए गए हो, तुम आ चुके होते हो।

अर्जुन को पता ही नहीं, कैसे सारा खेल हो गया है! कैसे उसने कृष्ण को अपना सारथी चुन लिया है। कैसे कृष्ण सारथी होकर उसके रथ पर सवार होकर इस महाभारत के युद्ध में आ गए हैं!

कैसे अनायास किसी और को पास न पाकर कृष्ण से वह पूछ बैठा है! कोई और था भी नहीं जिससे पूछे। मजबूरी थी, जैसे वह अपने से ही बोला हो। सारथी भी था मौजूद, इसलिए सारथी को पूछ लिया है। और एक अनंत यात्रा शुरू हो गई। अनजाने में, अंधेरे में उसकी शुरुआत है, जैसे बीज अंधकार में जमीन के फूटता है। उसे पता भी नहीं होता, कहां जा रहा है।

अंकुर को पता भी कैसे होगा, कहां जा रहा हूं! उसने पहले तो कभी आकाश देखा नहीं। उसने पहले तो कभी हवाओं में झोंके नहीं लिए। उसने पहले तो कभी सुबह की धूप में झपकी नहीं ली। वह जागा ही नहीं, बाहर आया ही नहीं; बीज में बंद था।

यह तो पहली ही बार यात्रा हो रही है। तोड़ता है जमीन की परतों को। बिलकुल नाजुक कोमल अंकुर कठोर पृथ्वी को तोड़कर बाहर आ जाता है। कोई अज्ञात पुकार है, जैसे सूरज ही उसे खींचता हो जमीन के बाहर, कि आओ! कि जैसे

हवाएं उसे बुलाती हों और वह रुक न पाता हो, अवश खिंचा हुआ चला आया है। धीरे— धीरे चीजें साफ होती हैं। धीरे— धीरे आकाश में उठता है और आश्वस्त होता है।

अर्जुन को पता नहीं, वह क्यों पूछने लगा है! अर्जुन को पता नहीं, क्यों उसने सारथी बना लिया है कृष्ण को! क्यों सारथी से पूछ रहा है! यह सब हुआ है। अर्जुन की तरफ से यह सब अंधकारपूर्ण है, कृष्ण की तरफ से यह सब साफ—साफ है।

अर्जुन को खयाल ही है कि उसने चुन लिया है कृष्ण को, कृष्ण ने ही उसे चुना है। अर्जुन को खयाल है कि उसने प्रश्न उठाए हैं, कृष्ण ने ही उसे उकसाया है। अर्जुन को खयाल है कि वह जिज्ञासा कर रहा है; क्या ने ही उसे अतृप्त किया है।

अगर तुम मेरी बात समझो, तो यह भी हो सकता था कि कृष्ण की जगह अगर और कोई सारथी होता, तो अर्जुन को ये प्रश्न भी न उठे होते, यह जिज्ञासा भी न जगी होती। यह कृष्ण की मौजूदगी में फूटता हुआ अंकुर है। संभावना भीतर थी, अन्यथा पत्थर को थोड़े ही सूरज तोड़ लेगा, बीज को ही तोड़ सकता है। भीतर संभावना थी, इसलिए कृष्ण की पुकार सुनी जा सक़ी। लेकिन अर्जुन के जो कदम हैं प्राथमिक, वे बिलकुल अज्ञात में हैं।

तुम भी मेरे पास चले आए हो, तुम्हारे पहले कदम बिलकुल अंधकारपूर्ण हैं। अनेक. व्यक्ति मेरे पास आकर कहते हैं कि हम क्यों आ गए हैं, हमें कुछ पता नहीं। हम यहां क्यों हैं? किसलिए यहां हम आपके पास रुक गए हैं, कुछ पता नहीं! कभी—कभी वे घबड़ा भी जाते हैं कि यहां क्या कर रहे हैं!

कोई दूर स्वीडन से आया है, डेनमार्क से आया है। उसे कभी सपना भी नहीं हो सकता था पूना का। पूना है भी कहीं, इससे भी कोई उसका लेना—देना न था। और तब अचानक किसी दिन उसे यह बात यहां भी पकड़ लेती है कि मैं यहां क्या कर रहा हूं! छ: महीने हो गए आए हुए। घर से पुकार आ रही है, वापस लौट आओ। किसी की पत्नी है, बच्चे हैं; किसी के पिता हैं, मां है। मैं यहां क्या कर रहा हूं?

मेरे पास लोग आकर बार—बार कहते हैं कि आप हमें बताएं, हम यहां क्या कर रहे हैं? हम यहां क्यों हैं?

उनकी बात ठीक है। प्राथमिक क्षण अंधकार में ही हैं उनके लिए। मैं जानता हूं वे यहां क्यों हैं; वे नहीं जानते हैं। गुरु ही खोज लेता है।

जीसस ने कहा है, जैसे मछुआ जाल फेंकता है पानी में, मछलियों को पकड़ लेता है।

ऐसा ही एक जाल है, जो बड़ा अदृश्य है और चैतन्य के सागर में फेंका जाता है। और जब अर्जुन जैसी कोई मछली फंस जाती है, तो गीता का जन्म होता है।

अर्जुन कोई छोटी—मोटी मछली नहीं है। बड़ा बहुमूल्य व्यक्ति है, बड़ी मूल्यवान संभावनाएं हैं, बड़ा उसका भविष्य है। धीरे— धीरे एक—एक उत्तर कृष्ण का उसके भीतर और अनेक प्रश्नों को उठाता गया। लेकिन यह संवाद है, वह विवाद नहीं कर रहा है। वह कृष्ण को गलत सिद्ध नहीं करना चाहता है। बहुत गहरे में तो वह यही चाहता है कि कृष्ण ही सही हों और मैं गलत होऊं। लेकिन करूं क्या, मजबूरी है! प्रश्न उठते हैं, संदेह है, संशय है, तो कहूंगा न तो क्या करूंगा! कहना ही पड़ेगा।

वह बड़ी दुविधा में है। हृदय प्रेम करना चाहता है, मस्तिष्क संदेह उठाता है। हृदय चाहता है, हटाओ सब संदेह; डूब जाओ इस गहरी मैत्री में। लेकिन मन संदेह उठाए चला जाता है।

मन के संदेह हल करने ही होंगे। मन को निरस्त करना ही होगा। मन की शंकाएं काटनी ही होंगी। लेकिन अर्जुन का हृदय मन के साथ नहीं खड़ा है, इसलिए हल हो सका। अगर अर्जुन का हृदय भी मन के साथ खड़ा हो, फिर कोई हल नहीं है, फिर कोई समाधान नहीं है। फिर तुम हल करना ही नहीं चाहते।

इस बात को तुम अपने भीतर ठीक से पहचान लेना। क्योंकि मुझे क्या लेना—देना कृष्ण से और अर्जुन से! सवाल मेरे और तुम्हारे होने का है। ये सब तो मेरे लिए बहाने हैं। जिनके बहाने ‘ 1 तुमसे कुछ कह रहा हूं। तुम अपने भीतर गौर से देख लेना।

अगर तुम पाओ कि तुम मुझे गलत सिद्ध करना चाहते हो, या: तुम्हारे हृदय में है, तो तुम व्यर्थ ही अपना समय खराब कर रहे हो। अगर तुम चाहते हो कि अंतत: मैं सही सिद्ध हो जाऊं और तुम गलत हो जाओ, फिर भी तुम्हारा मन संदेह उठा रहा है, फिर कोई अड़चन नहीं है। फिर तुम उठाए जाओ, सब संदेह काटे जा सकेंगे। लेकिन अगर तुम्हारा हृदय ही उनसे जुड़ा हो, तो तुम्हारे विपरीत मैं तुम्हें मुक्त न कर पाऊंगा। हा, तुम मुक्त होना चाहो, तो कितनी ही बाधाएं हैं, सब काट डाली जाएंगी। कोई बाधा बाधा न बन सकेगी। तुम होना ही न चाहो, तो फिर कोई उपाय नहीं है। फिर मेरे दिए हुए सब उपाय भी नई जंजीरें बन जाएंगे। तुम उनसे भी बंधोगे, छूटोगे नहीं।

आ गया यह आखिरी अध्याय अर्जुन की जिज्ञासा का, कृष्ण के समाधानों का। इस आखिरी अध्याय का नाम है, मोक्ष—संन्यास—योग।

भारत के लिए मोक्ष अंतिम बात है। वह अठारहवा अध्याय है। उसके पार फिर कुछ नहीं है।

दुनिया में कहीं भी मोक्ष आखिरी बात नहीं है। दुनिया में मनुष्य के चैतन्य की इतनी गहराई से खोज ही नहीं हुई। भारत ने चार पुरुषार्थ कहे हैं. अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष। अधिक संस्कृतियां बहुत अगर ऊंची उठीं, तो धर्म तक जाती हैं।

अब यह बड़े मजे की बात है, मोक्ष धर्म के भी पार है। मुक्त तो कोई तभी होता है, जब धर्म भी छूट जाता है। वह आखिरी बंधन है; बड़ा प्रीतिकर, बड़ा मधुर, मगर वह भी बंधन है। अगर तुम हिंदू हो, मोक्ष दूर है अभी। अगर मुसलमान हो, तो मोक्ष अभी दूर है। धर्म तक आ जाओगे। हमने उसे तीसरा ही पड़ाव कहा है, मंजिल नहीं। मोक्ष तो तब है, जब धर्म भी छूट गया, शास्त्र भी छूट गए, शब्द भी छूट गए। तुम्हें पता ही न रहा कि तुम कौन हो। कोई आइडेंटिटी, कोई तादात्म्य न रहा। कोई तुमसे पूछे, तो तुम हंसोगे; कुछ भी न कह पाओगे—हिंदू कि मुसलमान, कि जैन, कि बौद्ध।

और एक गहरे अर्थ में तुम सभी हो गए। मंदिर भी तुम्हारा, मस्जिद भी तुम्हारी, गुरुद्वारा भी तुम्हारा; और न कोई गुरुद्वारा रहा तुम्हारे लिए, न कोई मस्जिद रही, न कोई......। कुरान भी गई, गीता भी गई, वेद भी गए, बाइबिल भी गई। और एक अर्थ में सब घर आ गया, वेद भी तुम्हारा, बाइबिल भी तुम्हारी, गीता भी तुम्हारी।

तुम अब बंधे न रहे। तुम पार हो गए, एक अतिक्रमण हुआ।

मोक्ष बड़ी अनूठी बात है। वह पूर्वीय धारणा है। दुनिया की कोई जाति उतनी ऊंची नहीं गई। ज्यादा से ज्यादा जातियां धर्म तक ऊंची गईं। जो उतने भी नहीं जा सके, वे काम तक गए—अर्थ, काम। काम यानी वासना, सेक्स। अधिक लोग काम तक ही जा पाते हैं। जो उनसे भी नीचे हैं—वैसे भी बहुत लोग हैं; बड़ी संख्या है उनकी—जिनके लिए अर्थ ही सब कुछ है, धन।

अब यह थोडा सोचने जैसा है। जिसके जीवन में धन ही सब कुछ है, वह कामवासना वाले व्यक्ति से भी निम्न चेतना दशा का है। क्योंकि धन तो मुर्दा है। कामवासना कम से कम प्राकृतिक तो है, जीवंत तो है। धन तो जोड़ता नहीं, तोड़ता है। धन तो शोषण है, धन तो हिंसा है। प्रेम कम से कम जोड़ता तो है। किसी से भी जोड़ता है—एक स्त्री से, एक पुरुष से, परिवार से—कोई संबंध तो बनाता है। कामवासना में कुछ सेतु तो है! धन में तो कोई सेतु नहीं है। इसलिए धन का दीवाना किसी से भी नहीं जुड़ता। उसके आस—पास कोई जगह नहीं होती जहां से तुम संबंध बना लो। वह संबंधों से डरता है। क्योंकि संबंध बने कि झंझट आई। कहीं उसका धन न मांगने लगो! संबंध बने, तो कुछ

खर्च भी करना पडेगा। संबंध बने, तो तुम्हें उसने निकट लिया। निकट डर है, क्योंकि तिजोरी के पास आ रहे हो। तुम्हारा हाथ उसकी जेब में जा रहा है। इतने पास वह किसी को भी न लेगा।

सबसे निम्नतम चेतना है, जिसका लक्ष्य जीवन में अर्थ है। धन, मकान, वस्तुएं, वह निम्नतम चेतना है। और वह संस्कृति निम्नतम है, जो अर्थ पर पूर्ण हो जाती है।

उसके ऊपर काम है। कम से कम दूसरे से जुड्ने की थोडी संभावना है, द्वार खुला है। कोई बहुत बड़ा द्वार नहीं है, बड़ा क्षुद्र द्वार है, लेकिन है। कोई बहुत विराट द्वार नहीं है, संकीर्ण है, उसमें से घसिटकर आना और जाना भी कष्टपूर्ण है। और उससे दूसरे से तुम जुड़ते भी हो और नहीं भी जुड़ते। क्योंकि जिससे भी तुम्हारा कामवासना का संबंध है, उससे गहरा संबंध हो ही नहीं पाता। यह बड़े मजे की बात है। अगर तुम पति हो और तुम्हारी पत्नी से तुम्हारा केवल कामवासना का संबंध है, तो संबंध ही नहीं है। नाममात्र को है। एक ने दूसरे के हृदय को जाना .नहीं, पहचाना नहीं। एक ने दूसरे के जीवन में न तो कोई गहराई छुई; एक ने दूसरे की गहराई को पुकारा ही नहीं। बस, शरीर के ऊपर परिधि पर थोड़ा—सा मिलन है। और वह भी मिलन क्षणभंगुर है। फिर फासला है, फिर मिलन है, फिर फासला है। मिलना और बिछुड़ना, मिलना और बिछुडना। और बिछुडना चौबीस घंटे है, मिलना क्षणभर को है। इसलिए कोई बड़ा संबंध नहीं है।

और जिससे भी तुम्हारा कामवासना का संबंध है, उससे तुम्हारा संघर्ष जारी रहेगा, द्वंद्व जारी रहेगा, विरोध जारी रहेगा। क्योंकि तुम्हें भीतर गहराई में ऐसा लगता ही रहेगा कि मैं निर्भर हूं; अपनी वासना की तृप्ति पर निर्भर हूं।

इसलिए पति पत्नियों से लड़ते ही रहेंगे, पत्नियां पतियों से लड़ती ही रहेंगी। जब तक उनके बीच से कामवासना तिरोहित न हो जाए, तब तक संघर्ष जारी रहेगा। जब तक पति—पत्नी उस जगह न आ जाएं, जहां उनके भीतर तीसरा चरण उठ जाए, धर्म का, तब तक कलह जारी रहेगी; तब तक उन दोनों के बीच शाति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। और ऐसा संबंध भी क्या, जो सिर्फ कलह का संबंध है!

तो माना, रुपए—पैसे के बीच अगर तुलना करनी हो, अगर मुझसे कोई पूछे कि कामवासना या धन की दौड़? तो मैं कहूंगा, कामवासना। कम से कम थोड़े तो बाहर आओगे। बहुत सुंदर रूप से न आओगे, मगर आओगे तो! मुख्य द्वार से न आओगे, सरकते हुए, सेंध लगाकर आओगे किसी दीवाल में, आओगे तो! ठीक है, चलो, इतना ही सही। जुडोगे तो। जुड़ना कोई गहरा न होगा, परिधि—परिधि का मिलन होगा, हृदय हृदय से फासले पर रहेंगे। पर चलो, कुछ शुरुआत तो हुई।

जो संस्कृतियां अर्थ और काम, दो पर ही समाप्त हो जाती हैं, वही अधार्मिक संस्कृतियां हैं।

फिर तीसरा है द्वार धर्म का। धर्म तुम्हें खोलता है। तुम्हें तुम्हारे शरीर के ऊपर उठाता है। और कहता है, तुम शरीर ही नहीं हो। तुम्हें चैतन्य बनाता है। तुम्हें चैतन्य की पहली गंध देता है; चैतन्य का पहला स्वाद देता है। फिर तुम धर्म से जुड़ते हो जब, तब बड़ी और ही बात हो जाती है। जब पति—पत्नी ऐसी जगह आ जाते हैं, जहां उनके बीच नाता वासना का नहीं, काम का नहीं, धर्म का हो जाता है, तभी प्रेम पैदा होता है।

प्रेम धर्म की छाया है। धार्मिक व्यक्ति के आस—पास प्रेम बरसता है। तुम फर्क समझ सकते हो। कामवासना से भरे व्यक्ति के पास तुम एक तरह की दुर्गंध पाओगे। धर्म से भरे व्यक्ति के पास तुम एक तरह की सुगंध, एक ताजगी, सुबह की ओस की ताजगी, नए ताजे फूलों की गंध पाओगे।

जब धार्मिक व्यक्ति तुम्हारी आंखों में देखेगा, तो तुम्हारे भीतर आश्वासन का जन्म होगा, भय का नहीं। कामवासना से भरा हुआ व्यक्ति तुम्हारी आंखों में देखेगा, तो तुम भयभीत होओगे, तुम कंप जाओगे। वह तुम्हारे शरीर के पीछे है, तुमसे उसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुम हो या नहीं, इससे कोई अर्थ भी नहीं है। उसका रस तुम्हारी देह में है। बस, देह से ज्यादा उसकी गहराई नहीं है।

धर्म प्रेम तक ले जाएगा। और धर्म तुम्हें एक से नहीं जोड़ेगा, बहुतों से जोड़ देगा। काम तुम्हें एक से जोड़ेगा और बहुतों से तोड़ देगा। काम का संबंध ईर्ष्या का, वैमनस्य का, प्रतिस्पर्धा का संबंध है।

तुम्हारी पत्नी चौबीस घंटे डरी रहेगी कि तुम किसी और स्त्री की तरफ तो नहीं देख रहे! तुम्हारा पति सदा भयभीत रहेगा कि पत्नी किसी और पुरुष में उत्सुक तो नहीं है! वह बड़ा संकीर्ण है और ओछा है; इतनी संकीर्णता में हृदय का कमल खिल ही नहीं सकता। फिर एक धर्म का जगत है। वहां तुम्हारे जीवन में प्रतिस्पर्धा गिरती है, ईर्ष्या गिरती है, परिग्रह गिरता है। तुम धीरे — धीरे शाति की तरफ उत्सुक होते हो, मौन की तरफ उत्सुक होते हो। मंदिर की तरफ तुम्हारी यात्रा शुरू होती है।

धर्म के जगत में मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, पूजागृह महत्वपूर्ण हो जाते हैं। गीता, कुरान, बाइबिल महत्वपूर्ण हो जाते हैं। सत्संग, सदवचनों का सुनना, सज्जनों का साथ रस देने लगता है। एक नई ही वीणा बजने लगती है। तुम पहली दफा अनुभव करते हो कि पदार्थ पदार्थ ही नहीं है, इसमें परमात्मा छिपा है। कण—कण में तुम्हें उसकी प्रतीति की थोड़ी—सी झलकें आनी शुरू हो जाती हैं। कभी—कभी अचानक वातायन खुल जाता है और तुम पाते हो कि लोग साधारण नहीं हैं, असाधारण हैं। यहां प्रत्येक वस्तु में, वह कितनी ही साधारण हो, बड़ी असाधारण गरिमा छिपी है। प्रत्येक वस्तु एक आभा से मंडित हो जाती है, एक गरिमा व्याप्त हो जाती है। यह जगत तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि तुम किसी अजनबी जगह हो, यह तुम्हारा घर है। विरोध छूटता है, संघर्ष मिटता है, सहयोग शुरू होता है।

धार्मिक व्यक्ति के जीवन का स्वर सहयोग है। उसकी भाषा संघर्ष की नहीं रह जाती।

कुछ संस्कृतियां धर्म तक जाती हैं। लेकिन पूरब वहां नहीं रुकता। वह कहता है, अभी एक कदम और। और वह है, मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है, अब तुम इससे भी मुक्त हो जाओ।

मोक्ष बड़ी अनूठी धारणा है। क्योंकि सहयोग का भी मतलब है। कि कहीं न कहीं संघर्ष की धुन मौजूद होगी, नहीं तो सहयोग। किससे? किस बात का? मित्रता का अर्थ यह है कि कुछ शत्रुता। शेष होगी, नहीं तो मित्रता की क्या जरूरत? प्रेम का अर्थ यह है कि घृणा कहीं छिपी होगी, मौजूद होगी, अन्यथा प्रेम का भी का सवाल? और तुम्हें कण—कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है, इससे बात साफ है कि अभी पदार्थ और परमात्मा दो हैं, एक नहीं हुए। अभी कण भी है और उसमें परमात्मा दिखाई पड़ रहा है।

एक फकीर मेरे पास मेहमान थे, कोई पांच वर्ष पहले। वे मुझसे कहने लगे, मुझे तो कण—कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है। मैंने पूछा कि कण—कण भी दिखाई पड़ता है और परमात्मा भी? दोनों! वे थोड़े चौंके। उन्होंने कहा कि दिखाई तो दोनों ही पड़ते हैं। तो फिर, मैंने कहा, परमात्मा अभी पूरा नहीं हुआ। नहीं तो कण खो ही जाएगा।

मोक्ष की दशा में परमात्मा ही है। फिर ऐसा नहीं है कि दिखाई पड़ता है वृक्ष में। वृक्ष है ही नहीं, परमात्मा ही है। वृक्ष परमात्मा का एक रूप है। परमात्मा कहीं छिपा है, ऐसा नहीं; परमात्मा प्रकट है।

धर्म के जगत में परमात्मा छिपा है, अप्रकट है। प्रतीति होती है। थोड़ी झलकें आती हैं। थोड़ा खयाल आना शुरू होता है। चेतना जग रही है।

धर्म का जगत ऐसे है, जैसे सुबह तुम बिस्तर पर पड़े हो, उठना चाहते हो, थोड़ी नींद टूट भी गई है, नहीं भी टूटी है, अलसाए हुए हो। सड़क पर कोई दूध बेच रहा है, आवाज सुनाई पड़ती है। पत्नी उठ गई और बरतन साफ कर रही है, और आवाज सुनाई पड़ती है। और बच्चा स्कूल नहीं जाना चाहता, रो रहा है, और थोड़ा—सा खयाल आता है। ऐसी झलक आ रही है कि दुनिया जाग गई; उठो।

धर्म अलसाई हुई दशा है। न तो आदमी सोया हुआ है, न अभी जागा हुआ है; मध्य में है। मोक्ष परिपूर्ण जाग्रत चैतन्य का नाम है। मोक्ष शब्द का ही अर्थ है, मुक्ति, जहां कोई परतंत्रता न रही।

और इसे तुम ठीक से समझ लो। क्योंकि पूरब में जिन्होंने बहुत गहन खोज की है, उन्होंने कहा, जब तक दूसरा है, तब तक परतंत्रता रहेगी। दूसरे की मौजूदगी ही परतंत्रता है। जब तक दो हैं, तब तक अड़चन रहेगी। अद्वैत चाहिए, तभी स्वतंत्र हो पाओगे। जब स्व ही बचे और कुछ न बचे, तभी स्वतंत्र हो पाओगे। जब तक दूसरा है, तब तक दूसरा तुम्हारी सीमा बनाएगा।

तुमने कभी खयाल किया, तुम अकेले अपने बाथरूम में होते हो, तब एक तरह की स्वतंत्रता होती है। तुम मुस्कुराते हो, गीत गाते हो, गुनगुनाते हो। जिनको लाख समझाओ कि जरा गुनगुना दो लोगों के सामने, वे भी बाथरूम में बड़े मधुर गीत गाते हैं।

दूसरे की मौजूदगी में परतंत्रता है। दूसरा मौजूद है, तो तुम सिकुड़े। अगर तुमको पता चल जाए कि कोई चाबी के छेद से झांक रहा है, तो तुम वहां भी सिकुड़ जाओगे, वहां भी डर जाओगे। वहां भी तुम्हारी स्वतंत्रता छिन जाएगी। तुम परतंत्र हो गए। दूसरे की नजर आई कि तुम परतंत्र हुए।

रास्ते पर तुम अकेले जा रहे हो, तुम्हारी चाल और होती है। फिर अचानक कोई रास्ते पर निकल आया, तुम्हारी चाल तत्थण बदल जाती है। तुम्हें होश नहीं है, इसलिए तुम्हें पता नहीं चलता; लेकिन सब बदल जाता है। अकेले में तुम और ही होते हो; दूसरे के सामने तुम और ही हो जाते हो, एकदम तुम्हारा चेहरा झूठा हो जाता है। जिन्होंने खोजा, उन्होंने पाया है कि जब तक हम अकेले ही न बचें, तब तक कुछ पूरी स्वतंत्रता नहीं उपलब्ध हो सकती।

मोक्ष का अर्थ है, तुम डूब गए सर्व में और सर्व डूब गया तुममें। बूंद गिरी सागर में, सागर गिरा बूंद में। अब कोई दूसरा न रहा, दुई मिट गई। अब ऐसा नहीं है कि परमात्मा दिखाई पड़ता है कहीं, अब परमात्मा ही है, देखने वाला और दिखाई पड़ने वाला।

इसलिए कुछ ज्ञानियों ने तो परमात्मा को भी इनकार कर दिया, क्योंकि उससे दुई पता चलती है। महावीर ने कहा, कौन परमात्मा? कैसा परमात्मा? आत्मा ही परमात्मा है।

इसे तुम ठीक से समझना। यह महाज्ञान का शब्द है। नासमझ समझे कि महावीर नास्तिक हैं। बुद्ध ने इनकार ही कर दिया; परमात्मा से ही नहीं, आत्मा से भी, कि कौन? क्योंकि जब भी तुम कुछ कहो, कोई भी शब्द उपयोग करो, हर शब्द दूसरे की मौजूदगी को पैदा करता है।

अगर तुम कहो आत्मा है, तो उसका अर्थ यह हुआ कि तुम आत्मा को भिन्न कैसे करोगे? अनात्मा भी होगी। जब तुम कहते हो प्रकाश है, तुमने अंधकार स्वीकार कर लिया। जब तुम कहते हो परमात्मा है, तब तुमने संसार स्वीकार कर लिया। जब तुम कहते हो मोक्ष है, तो तुमने बंधन स्वीकार कर लिया।

इसलिए बुद्ध ने कहा कि न तो कोई आत्मा है, न कोई परमात्मा है, न कोई मोक्ष है। यह परम मोक्ष की अवस्था है; यह परम मुक्ति है, यह निर्वाण है। और यही लक्ष्य है।

ठीक ही है कि अठारहवा अध्याय मोक्ष—संन्यास—योग है। मोक्ष है परम लक्ष्य। संन्यास है मार्ग उस परम लक्ष्य को पाने का। मोक्ष को पाना है, संन्यास से पाया जाता है। और कोई पाने का उपाय नहीं है। अकेले होना है, इतने अकेले हो जाना है कि सब तुममें समाहित हो जाए, तो इसकी यात्रा का प्रस्थान बिंदु संन्यास है। पूरब की दो ही खोजें हैं, मोक्ष—गंतव्य, संन्यास—मार्ग।

सिकंदर शिष्य था प्लेटो का। प्लेटो की धारणाएं धर्म तक पहुंच जाती हैं। लेकिन मोक्ष की उसे भी कोई समझ नहीं है। जब सिकंदर भारत आने लगा, तो उसने कहा, भारत से लौटते वक्त तुम बहुत चीजें लूटकर लाओगे, एक चीज मेरे लिए ले लाना, एक संन्यासी ले आना। मैं एक संन्यासी को देखना चाहता हूं। यह संन्यास क्या है!

यह अनूठा फूल भारत में ही खिला है। यह खिल ही नहीं सकता था दूसरी संस्कृति में, क्योंकि मोक्ष की धारणा ही न थी तो संन्यास का सवाल कहा उठता है! जब मोक्ष का गंतव्य होता है सामने, तो फिर संन्यास का विज्ञान उठता है।

अर्जुन आखिरी जिज्ञासा कर रहा है। उसके पार फिर कोई जिज्ञासा नहीं होती। वह आखिरी जिज्ञासा कर रहा है, संन्यास की और मोक्ष की। इसे तुम समझो।

अर्जुन बोला, हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक—पृथक जानना चाहता हूं। मुझे साफ—साफ समझा दें, क्या है संन्यास और क्या है मोक्ष!

यह आखिरी जिज्ञासा है, इसके पार कोई जिज्ञासा हो नहीं सकती। और जो पूछना था, पूछ लिया। अब आखिरी बात पूछने को आ गई है।

मुझे अलग—अलग करके समझा दें......।

क्योंकि धारणाएं संन्यास की, मोक्ष की, त्याग की बड़ी सूक्ष्म हैं और बहुत नाजुक हैं। और ज्ञानियों ने बहुत तरह के वक्तव्य दिए हैं, इसलिए बड़ी उलझन वहां भी है।

पहले कहता है, हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव.....!

यह सिर्फ वह अपने हृदय की बात कह रहा है। हृदय थकता नहीं प्यारे को पुकारने से। तीन—तीन बार दोहराता है! वह यह कह रहा है कि हृदय तो आश्वस्त है कि तुम जो कहोगे, ठीक ही होगा; बुद्धि आश्वस्त नहीं है। पहले हृदय को रख देता है सामने।

पुरानी परंपरा थी कि जब तुम गुरु के पास जाओ, तो पहले चरण छुओ, फिर पूछो। वह केवल इतना ही कहना था कि ऐसे तो चरणों में झुका हूं; आप जो कहेंगे, वह ठीक ही होगा; उसमें गलत होने का कोई सवाल नहीं है। लेकिन मैं अबुद्धि हूं। और मेरी बुद्धि में अभी बहुत—सी चिंतनाएं चलती हैं......।

तो चरण में झुकना प्रतीक है कि संवाद की तैयारी है, सुनने को राजी हूं, श्रावक बनने को आया हूं र विवाद की उत्सुकता नहीं है। तब पूछता है शिष्य।

हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग के तत्व को पृथक —पृथक जानना चाहता हूं। कृष्ण बोले, हे अर्जुन, कितने ही पंडितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं। और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। तथा कई मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं। और दूसरे विद्वान ऐसा भी कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

पंडित का अर्थ उस दिन कुछ और था, आज कुछ और है। पंडित का अर्थ उन दिनों प्रज्ञावान पुरुष था, जिसने जाना है। आज पंडित का अर्थ होता है शास्त्रज्ञ, जो शास्त्र को जानता है। इन दोनों में बड़ा फर्क हो गया है। आज पंडित शब्द तो निंदित है। किसी को पंडित कहने का अर्थ ही यह है कि वह कुछ नहीं जानता, कोरा पंडित है! शब्दों की भरमार है। अनुभव से खाली है।

उन दिनों पंडित का अर्थ था, जो प्रज्ञा को उपलब्ध हो गया है, जिसने अंतर्ज्योति को जला लिया है।

कृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन, कितने ही पंडितजन, कितने ही प्रज्ञावान पुरुष काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं।

काम्य कर्म क्या है? अगर तुम गीता की टीकाएं पढ़ोगे, तो काम्य कर्म के संबंध में गीता के टीकाकार जो कहते हैं, वह बिलकुल ही गलत कहते हैं। गीता के सभी टीकाकार यह मानकर चलते हैं कि काम्य कर्म वे कर्म हैं, जो वेद—विहित हैं, करने योग्य हैं, जिनको करना ही चाहिए।

अगर यह बात ठीक हो.। यह बात भी ठीक हो सकती है, क्योंकि प्रज्ञावान पुरुष सदा ही शास्त्र, वेद से मुक्ति की तरफ ले जाना चाहते हैं।

लेकिन यह बात मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ती। मेरी दृष्टि में काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि जो कर्म वेद—विहित हैं, उनका त्याग।

काम्य कर्मों का त्याग एक ही अर्थ रख सकता है कि कर्म दो तरह के हैं। एक, जो आवश्यक हैं; और दूसरे, जो काम्य हैं। आवश्यक कर्म तो ऐसा है, जैसे भूख लगेगी, तो भोजन जुटाना पड़ेगा। कैसे तुम जुटाते हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बुद्ध को भी जुटाना पड़ता है। वे भी भिक्षा के लिए गांव में निकलते हैं।

यह तो जरूरत है, यह तो आवश्यकता है। प्यास लगेगी, तो शरीर के लिए पानी देना पड़ेगा। न दोगे, तो आत्महत्या का पाप लगेगा। वर्षा है, छप्पर खोजोगे। धूप घनी है, तो बुद्ध भी छायापूर्ण वृक्ष के नीचे बैठते हैं। ये काम्य कर्म नहीं हैं, ये अनिवार्य कर्म हैं। इनका तो त्याग कोई प्रज्ञावान पुरुष नहीं कहता।

काम्य कर्म वे हैं, जो वासनाजन्य हैं। जैसे, बड़ा मकान चाहिए। जरूरत शायद न भी हो, सिर्फ अहंकार की आकांक्षा हो। क्योंकि छोटे मकान में छोटा अहंकार लग सकता है। बड़े मकान में बड़ा अहंकार लग सकता है। शायद सोने के लिए तो जितनी जगह तुम छोटे मकान में लेते हो, उतनी ही बड़े मकान में लोगे। लेकिन बड़ा मकान चाहिए।

लोग बड़ा मकान जिंदा में ही नहीं चाहते, मरकर भी चाहते हैं। सम्राट तो अपनी कब्र भी पहले से बनवा रखते हैं। क्योंकि पीछे क्या भरोसा, लोग बड़ी कब्र बनाएं न बनाएं! तो अपनी कब्र पहले ही बना रखते हैं। बड़ी—बड़ी कब्रें बनाई गई हैं। और आदमी मरकर उतनी ही जगह लेता है, जितना गरीब लेता है, उतना ही अमीर लेता है।

अगर जिंदगी में भी काम्य कर्म छूट जाएं, तो तुम्हारी जरूरतें भी वही हैं, जो गरीब की हैं। अमीर की भी वही हैं, गरीब की भी वही हैं। प्यास लगती है, पानी चाहिए। भूख लगती है, भोजन चाहिए। त्याग का अर्थ होगा, संन्यास का अर्थ होगा, जरूरत ही शेष रह जाए, गैर—जरूरत हट जाए। जो गैर—जरूरी है, जो किसी कामना के कारण पैदा हुआ है, जो किसी पागलपन से पैदा हुआ है, वह हट जाए। अगर तुम इसे ठीक से समझ लो, तो तुम पाओगे, जीवन बड़ा सरल हो जाता है। चाहिए ही कितना कम है!

सुखी होने के लिए बहुत कम चाहिए; दुखी होने के लिए बहुत ज्यादा चाहिए। दुख छोटे से नहीं होता। दुख के लिए बड़ा विराट आयोजन चाहिए। अगर निश्चित रहना हो, बड़े थोड़े में हो जाता है। लेकिन चिंता चाहिए हो, तो थोड़े में नहीं होता, उसके लिए सिकंदर बनना जरूरी है।

इसलिए तुम जितना इकट्ठा करते जाओगे, उतना ही पाओगे कि दुखी और चिंतित होते जाते हो। फिर भी गणित तुम्हारी समझ में नहीं आता। तुम सोचते हो, शायद थोड़ा और ज्यादा हो जाए, तो फिर सुखी हो जाऊंगा। और ज्यादा हो जाता है, और दुखी हो जाते हो। वही मन जो तुम्हें यहां तक ले आया, कहता है, अब और थोड़ा कर लो, तो बिलकुल सुखी हो जाओगे। और ऐसे वह तुम्हें लेता चलता है। अगर तुम गौर से देखोगे, तो तुम पाओगे, जब तुम्हारे पास कम था तब तुम सुखी थे।

सभी को ऐसा लगता है कि बचपन में सुख था, उसका कुल कारण इतना है कि बचपन में तुम्हारे पास कुछ भी नहीं था, कोई परिग्रह नहीं था। कुल कारण इतना है कि तुम्हारी जरूरतें भर जरूरतें थीं। भूख लगती थी, भोजन कर लेते थे। प्यास लगती थी, पानी पी लेते थे, फिर खेलने बाहर निकल जाते थे। थक गए, तो घर आकर सो जाते थे। कुछ भी न था, मालकियत कोई भी न थी।

छोटे बच्चों को गौर से देखो। रंगीन कंकड़—पत्थर उन्हें इतना आनंदित कर देते हैं, जितने हीरे—जवाहरात भी तुम्हें न कर सकेंगे। तितलियों के पंख बीन लाते हैं और घर ऐसे आते हैं, जैसे कि सम्राट होकर चले आ रहे हैं। उनके खीसों में हाथ डालो, कंकड़, पत्थर, सीप, न मालूम क्या—क्या तुम पाओगे! रात भी उनसे उन्हें निकालो तो उनका मन नहीं होता, वे कहते हैं कि रहने दो। वह उनका धन है, तुम्हें पता नहीं; तुम उनका धन ले रहे हो। बड़े सरल हैं, छोटा—सा सब कुछ है, बहुत है, पर्याप्त है।

फिर जैसे—जैसे तुम्हारे पास चीजें आनी शुरू होती हैं। जिस दिन बच्चे के मन में मालकियत का स्वर उठता है, उसी दिन चिंता शुरू हो जाती है, उसी दिन बचपन समाप्त हो गया, बच्चा मर गया। अब कोई और दूसरा प्रविष्ट हो गया। अब यह दौड़ चलेगी मरते दम तक। और जिंदगी भर बार—बार तुम्हें याद आएगी कि बचपन बड़ा सुख। था।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं, बच्चे जैसे ही जीओ। जरूरत की चीज चाहिए, निश्चित चाहिए। उसके लिए जो कर्म करना पड़े, उसके त्याग को कोई भी नहीं कहता। लेकिन जो व्यर्थ की कामनाएं हैं, उनकी पूर्ति के लिए जो कर्म किए जाते हैं, वे छोड़ दो।

मुझसे लोग कहते हैं, समय नहीं है ध्यान के लिए। कर क्या रहे हो चौबीस घंटे? बहुत काम का जाल है। ध्यान ही आखिर में काम आता है; शेष सब किया हुआ व्यर्थ हो जाता है। जिसने जीवन में थोड़े से क्षण ध्यान के पा लिए, वही बचाए हुए सिद्ध होते हैं। बाकी सब, बाकी सब नाली में बह गया, कुछ काम का नहीं आता। लेकिन व्यर्थ को हम करने में संलग्न हैं; सार्थक को करने के लिए समय नहीं है!

कृष्ण कहते हैं, कितने ही पंडितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं....।

यह एक दृष्टि है, यह एक मार्ग हुआ संन्यास तक पहुंचने का। और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं.।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, ऐसे भी विचक्षण पुरुष हैं..।

जीवन सुंदर है इसीलिए कि यहां बड़े भिन्न होने के उपाय हैं। यहां अगर गुलाब ही गुलाब के फूल होते, तो बड़ी ऊब पैदा कर देते। यहां हजार—हजार तरह के फूल हैं।

तो कृष्ण कहते हैं, वे जो कहते हैं—प्रज्ञावान पुरुष हैं वे भी—कि काम्य कर्म छोड़ दो, पर ऐसे विचक्षण पुरुष भी हैं, जो कहते हैं, कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है, केवल फल का त्याग कर दो।

इनको विचक्षण कहते हैं। वे कहते हैं कि इनको बड़ी अनूठी दृष्टि उपलब्ध हुई है। इनकी दृष्टि अनूठी है, साधारणत: समझ में न आएगी।

पहली तरह के जो पुरुष हैं, उनकी बात साधारणत: समझ में आ जाती है; अड़चन नहीं है। जरूरत का काम करो, गैर—जरूरत का छोड़ दो। सीधा गणित है। इसलिए पहले तरह के पुरुषों का भारी प्रभाव पड़ा है। महावीर, बुद्ध सभी पहली तरह के पुरुष हैं।

दूसरी तरह के पुरुष तो कृष्ण हैं, जनक हैं। वे बड़े विचक्षण लोग हैं। वे कहते हैं, कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है। छोड़ना, पकड़ना क्या है? सिर्फ फल त्याग कर दो। वे कहते हैं, फल की भर आकांक्षा न हो। फिर तुम्हें राज्य भी बनाना हो, तो बनाए चले जाओ। कोई हर्जा नहीं है। फल की आकांक्षा न हो। पाने का कोई खयाल न हो।

बहुत कठिन है लेकिन। तुम्हें भी लगेगा कि बात तो दूसरी ही ठीक है, इसलिए नहीं कि दूसरी ठीक लगती है। दूसरी ठीक लगेगी कि उसमें कामना को बचा लेने का उपाय लगता है। उसमें लगता है, तो फिर कोई हर्जा ही नहीं है। जब जनक भी ज्ञान को उपलब्ध हो गए राजमहलों में रहकर, तो हम भी हो जाएंगे।

मगर तब तुम चूक जाते हो। तुम अगर कामवासना के कारण सोच रहे हो कि दूसरी बात सरल है, तो तुम गलती में पड़ रहे हो। दूसरी बात पहली से ज्यादा कठिन है।

जिस काम की वासना चली गई हो, उसको न करना बहुत आसान है; सिर्फ फल त्याग करना बहुत कठिन है। उसका मतलब है, आधे का त्याग और आधे का जारी रखना। उसका अर्थ यह हुआ कि काम तो वैसा ही करना, जैसे सांसारिक लोग कर रहे हैं, लेकिन बिलकुल विभिन्न दृष्टि से करना। दुकान, चलाना, लेकिन लाभ की भावना न रखना। इससे सरल है दुकान छोड़कर पहाड़ भाग जाना। क्योंकि उसमें मामला बिलकुल साफ है। दुकान करनी है, तो दुकान करो; पहाड़ जाना है, पहाड़ चले जाओ।

लेकिन दूसरे जो विचक्षण पुरुष हैं, वे कहते हैं, दुकान पर ऐसे बैठो, जैसे पहाड़ पर बैठोगे।

यह जरा सूक्ष्म है, ज्यादा नाजुक है। इसमें खतरा है। खतरा यह है कि कहीं तुम दुकान पर ऐसे ही न बैठे रहो, जैसे दुकान पर दूसरे लोग बैठे हैं; और यह भांति बना लो कि हम पहाड़ पर हैं। हमारी कोई फलेच्छा थोड़े ही है! हमारी कोई फल की आकांक्षा थोड़े ही है! हम तो यह कर्तव्यवश किए चले जा रहे हैं। और भीतर फल की इच्छा है।

तुम सारी दुनिया को धोखा दे सकते हो, लेकिन अपने को कैसे दोगे? और असली सवाल अपना है। अपने भीतर तुम जरा भी देखोगे, तो साफ पाओगे कि धोखा दे रहे हो। क्योंकि काम, फल तुम्हारे भीतर गूंजता ही रहेगा।

वस्तुत: दुकान पर बैठे लोग दुकान पर बैठना नहीं चाहते हैं, मजबूरी है, फल पाने के लिए बैठना पड़ता है। अगर उन्हें भी कोई मिल जाए, कि दुकान पर न बैठो, यह ताबीज ले लो—कोई सत्य साईं बाबा—इससे बिना कुछ किए फल की प्राप्ति होगी, तो वे भी पहाड़ जाने को तैयार हैं। कौन नासमझ दुकान पर बैठने का रस ले रहा है! लेकिन बिना दुकान पर बैठे फल नहीं मिलता। बड़ा मकान बनाना है, वह नहीं बनता। पहाड़ पर बैठने से नहीं बनेगा। इसलिए मजबूरी में वे काम में लगे हैं।

अगर तुम बाजार में इस तरह हो सको, जैसे तुम एकांत में होओ; तुम काम ऐसे कर सको, जैसा कि फलाकांक्षी करता है, बिना फलाकांक्षा के, तो तुमने बड़ी विचक्षण दृष्टि पा ली। तब कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं है। तब तो इतना ही समझना काफी है कि फल उसके हाथ में है, कर्म मेरे हाथ में है। करना मुझे है; फल देना न देना उसकी मर्जी। फिर जो वह तुम्हें दे दे, तुम उससे ही तृप्त हो। न दे, तो न देने से तृप्त हो। छीन ले, छिन जाने से तृप्त हो। फिर तुम्हारी तृप्ति को कोई नहीं तोड़ सकता।

इसको तुम कसौटी समझ लो। अगर तुम्हारी तृप्ति में अंतर पड़ता हो; दुकान में लाभ होता हो, तो तुम्हारे पैर जरा तेजी से और प्रसन्नता।। चलते हों, तुम तृप्त मालूम होते हो; हानि होती हो, तो तुम उदास हा जाते हो, दीन—हीन हो जाते हो, पैर लथडाने लगते हैं; तो फिर मत समझना कि तुमने फलाकांक्षा का त्याग कर दिया है।

बुद्ध और महावीर का मार्ग सरल है, जनक और कृष्ण का बहुत कठिन है। इसलिए वे कहते हैं, कोई विचक्षण पुरुष! कभी—कभी कोई ऐसा अदभुत, बहुत अनूठा व्यक्ति ही इसको साध पाता है; कि महल में बैठा है और उसे पता ही नहीं है कि यह महल है; कि हीरे—जवाहरातों से घिरा है, लेकिन घिरा हो न घिरा हो, सब बराबर है।

हे अर्जुन, कितने ही पंडितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं और कितने ही विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। तथा कई मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं.।

ऐसा भी एक वर्ग है मनीषियों का, जानने वालों का, जो कहता है, सभी कर्म त्यागने योग्य हैं। कर्म मात्र दोषयुक्त है। तुम जो भी करोगे, उसमें ही दोष लगेगा। श्वास भी लोगे, तो भी हिंसा होती है। पानी भी पीओगे, तो पानी के कीटाणु मरेंगे। भोजन करोगे, हिंसा होगी। चलोगे, पैर रखोगे, छोटे जीवाणु दबेंगे और हत्या होगी। तो ऐसे भी मनीषी हैं, जो कहते हैं कि कोई भी कर्म करोगे, दोष लगेगा ही। इसलिए अकर्म को उपलब्ध हो जाओ; कर्म करो ही मत। और

धीरे— धीरे कर्म त्याग करते जाओ। और अंतिम लक्ष्य वह है, जहां तुम ऐसी घड़ी में पहुंच जाओ, जहां कोई भी कर्म न होता हो। तभी तुम मुक्त हो सकोगे।

वे भी ठीक कहते हैं।

कृष्ण एक गहन समन्वय हैं। उन्होंने भारत ने जो भी जाना था तब तक, उस सभी को गीता में समाविष्ट कर लिया है। उनका किसी से कोई विरोध नहीं है। वे सभी के भीतर सत्य को खोज लेते हैं।

इसलिए गीता सार—ग्रंथ है। वेद को अगर भूल जाओ, तो चलेगा। क्योंकि जो भी वेद में सार है, वह गीता में आ गया। महावीर विस्मृत हो जाएं, चलेगा। क्योंकि महावीर का जो भी सार है, वह गीता में आ गया। सांख्य शास्त्र न बचे, चलेगा। गीता में सारी बात महत्व की आ गई है।

अगर भारत के सब शास्त्र खो जाएं, तो गीता पर्याप्त है। कोई भी प्रज्ञावान पुरुष गीता से फिर से सारे शास्त्रों को निर्मित कर सकता है। गीता में सारे सूत्र हैं। तो गीता निचोड़ है।

गीता अकारण ही करोड़ों लोगों के ह्रदय का हार नहीं हो गई है; अकारण ही नहीं हो गई है।

जब पहली दफा जर्मनी के एक बहुत बड़े विचारक शापेनहार ने गीता पढ़ी, तो उसने सिर पर रखी और नाचने लगा। शापेनहार को किसी ने कभी नाचते नहीं देखा था। वह बहुत गंभीर चित्त आदमी था, नाचना जंचता ही नहीं था उसको। उसका पूरा दर्शन ही उदासी, दुखवाद है। वह कहता है, हंसी की तो कोई सुविधा ही नहीं है जगत में। वह नाचने लगा।

उसके पास बैठे मित्रों ने कहा, तुम पागल हो गए शापेनहार! क्या कर रहे हो? उसने कहा कि ऐसा ग्रंथ कभी देखा नहीं, जिसमें सब आ गया। ऐसा ग्रंथ कभी देखा नहीं, जिसमें सभी विरोधों के बीच सामंजस्य हो गया; जिसमें किसी का खंडन नहीं किया गया है और सभी को स्वीकार कर लिया गया है!

हिंदुओं ने ऐसे ही कृष्ण को पूर्ण अवतार नहीं कहा है। महावीर थोड़े अधूरे लगते हैं; एकांगी मालूम होते हैं। और अगर सभी महावीर हो जाएं, तो संसार को बड़ा धक्का लगेगा, भारी नुकसान होगा। फिर आगे महावीर होने की भी संभावना खतम हो जाएगी। नहीं, महावीर इक्के—दुक्के ठीक, नमूने की तरह अच्छे हैं। लेकिन सभी जगह वे ही खड़े हो जाएं, जहां निकलो, वहीं वे ही खड़े हैं, बहुत घबड़ाने वाला हो जाएगा। नमक की तरह ठीक। पूरा भोजन महावीर का नहीं हो सकता।

इसलिए मैं निरंतर कहता हूं जैन कोई संस्कृति पैदा नहीं कर पाए। वे कर नहीं सकते, क्योंकि नमक से कहीं पूरा भोजन बना है! जैन केवल एक वैचारिक समाज रह गया, एक विचार का समूह रह गया। संस्कृति नहीं है जैनों के पास। अगर तुम जैनियों से कहो—जैसा मैंने कहा, लेकिन कोई जवाब नहीं देता—अगर तुम उनसे कहा कि पच्चीस सौ वर्ष महावीर के पूरे हो गए तुम बड़ा शोरगुल मचा रहे हो, जगह—जगह आयोजन, सभा, समारंभ! तुम एक काम करके दिखा दो, एक जैन बस्ती बसाकर दिखा दो, जिसमें सब जैन हों, तो हम मान लेंगे कि तुम्हारे पास कोई संस्कृति है। तुम नहीं बसा सकते, क्योंकि चमार कौन होगा? भंगी कौन होगा? खेती कौन करेगा?

इसलिए जैन कभी समाज भी नहीं बन पाए, संस्कृति भी नहीं बन पाए; वे हिंदुओं की छाती पर बैठे रह गए। उनका अपना कोई आधार नहीं है जमीन में। इसलिए जैन समाज को अलग कहने का कोई अर्थ ही नहीं है; वह हिंदुओं का एक अंग है। उसको अलग कहने का अर्थ तभी हो सकता है, जब वे बता दें कि हम एक प्रयोग भी करके बता सकते हैं कि यह छोटी बस्ती है हजार लोगों की, इसमें सब जैन हैं। अगर तुम सब मिलकर एक बस्ती भी नहीं बसा सकते, तो तुम सर्वांग नहीं हो, अधूरे हो।

पूरा नमक भोजन नहीं बन सकता। नमक बिलकुल जरूरी है; उसके बिना भोजन बड़ा बेस्वाद हो जाएगा।

तो कभी—कभी इक्का—दुक्का महावीर प्रीतिकर हैं, मगर उनका समूह नहीं। अन्यथा वे जान ले लेंगे। इसलिए महावीर अधूरे हैं। बुद्ध अधूरे हैं।

यद्यपि महावीर से ज्यादा क्षमता है बौद्धों की। उन्होंने समाज बनाकर बता दिए हैं, उन्होंने संस्कृति सम्हालकर बता दी। लेकिन उनको समझौते करने पड़े। इसलिए अगर बुद्ध वापस लौटें, तो जापान, चीन, बर्मा या श्याम आदि बौद्धों के जो मुल्क हैं, वे किसी को बौद्ध नहीं कहेंगे। क्योंकि उन्होंने इतने समझौते कर लिए हैं, जिसका हिसाब नहीं है। वह बुद्ध की पूरी शुद्धता ही खो गई है। बुद्ध ने खुद ही कहा है कि मेरा धर्म पांच सौ साल से ज्यादा नहीं चलेगा। क्या कारण होगा? जब तुम बहुत शुद्ध बात कहोगे, तो ज्यादा देर नहीं टिक सकती इस अशुद्ध दुनिया में। पांच सौ साल भी टिक जाए तो बहुत। वह भी आशा है।

मेरे देखे तो जब तक बुद्ध रहते हैं, तभी तक बुद्धत्व टिकता है, उससे ज्यादा नहीं टिक सकता। क्योंकि वह बात ही इतनी शुद्ध है, उसमें जड़ें नहीं हैं जमीन में प्रवेश करने की। वह आकाश में मंडराता हुआ बादल है। वह ज्यादा देर नहीं टिक सकता। कभी—कभार आएगा, चला जाएगा।

कृष्ण संपूर्ण हैं। कृष्ण पूरी सीढ़ी हैं। बुद्ध, महावीर बस सीढ़ी का आखिरी हिस्सा हैं, अधर में लटके हुए। उनका दूसरा हिस्सा जमीन से नहीं टिका है। वे शुद्ध हैं; अशुद्धि से बहुत भयभीत हैं। कृष्ण समाहित कर लेते हैं सभी को, अशुद्धि को भी।

और मेरे माने वही शुद्धि वास्तविक है, जो अशुद्धि को भी समाहित कर लेती हो। नहीं तो शुद्धि ही क्या? जो अशुद्धि को भी न पी जाए, वह शुद्धि क्या? वह अमृत अमृत नहीं है, जो जहर को न पी जाए। अगर जहर से अमृत नष्ट होता हो, तो जहर से कमजोर है, उसकी क्या कीमत! वह जहर को पी ले और अमृत बना दे। कृष्ण ने सारी दृष्टियों को समाहित कर लिया है, और बिना किसी अड़चन के!

जो कहते हैं कि काम्य कर्मों का त्याग संन्यास है, वे भी पंडितजन हैं, वे भी जानने वाले लोग हैं। मगर उनका जानना भी एक दृष्टि है, एक अंग है, एक ढंग है; वह भी अधूरा है। फिर ऐसे विचक्षण पुरुष हैं, जो कहते हैं, कर्मफल का त्याग ही त्याग है। वे भी ठीक ही कहते है। फिर ऐसे मनीषी हैं, जो कहते हैं, सभी कर्म दोषयुक्त है।

महावीर यही कहते हैं, कर्म मात्र दोषयुक्त है, इसलिए त्यागने योग्य हे। वे भी ठीक कहते हैं। वे भी मनीषी हैं; उन्होंने भी बड़ा जाना है, ऐसे ही नहीं कह दिया है।

और दूसरे विद्वान भी हैं, जो कहते हैं, यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

एक और वर्ग है चौथा, वह भी बुद्धिमानों का है, वह भी नासमझों का नहीं है। वे कहते हैं कि तीन तरह के कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं यज्ञ, दान और तप।

तपरूप कर्म वे हैं, तुमने जो—जो गलत किया है, उसे काटने के लिए किए जाते हैं। कांटा लग गया है, तो एक और कांटा खोजना पड़ता है उसे निकालने को, नहीं तो लगे काटे को कैसे निकालोगे? गलत कर्म तुमने किए हैं, तो उनको निकालने के लिए तुम्हें दूसरे शुभ कर्म करने पड़ेंगे। वे भी कर्म हैं। मगर करने पड़ेंगे, क्योंकि गलत कर्म तुम कर चुके हो।

तुमने किसी को गाली दे दी, अब माफी मांगनी पड़ेगी, ताकि सब संतुलित हो जाए। गाली से जो असंतुलन पैदा हुआ था, वह भी कर्म था। माफी मांगना भी उसी तरह कर्म है। दोनों में वाणी का उपयोग हुआ है, दोनों में मुंह का उपयोग हुआ। लेकिन माफी मांगनी पड़ेगी, ताकि संतुलन आ जाए।

तपरूप कर्म का अर्थ है, संतुलन लाने वाले कर्म; जिनसे जीवन संतुलित होता है। तुमने बहुत अपराध किए हैं, थोड़ी सेवा भी करो। तुमने बहुत चूसा है, विसर्जित भी करो। तुमने बहुत छीना है, बांटों भी।

नहीं तो यह होगा कि अब तक तो काफी छीना, लूटा, दुख दिया, और अब अचानक तुमको यह दर्शनशास्त्र समझ में आ गया कि सब कर्म त्याज्य हैं। अब तुम कुछ भी नहीं करते, अब तुम बैठ गए। तो वे जो कांटे लगे हैं, वे लगे रह जाएंगे, वे छिदे रह जाएंगे। उन्हें काटो, उन्हें निकालो। उनके लिए तपरूप कर्म।

तुमने जो—जो छीना है, जहां—जहां हिंसा हुई है, जहां—जहां शोषण हुआ है—और निरंतर हुआ है, सारे जीवन की यात्रा शोषण, हिंसा की है—दान करो, बांट दो। जहां से लिया है, वहां लौट जाने दो। ताकि संतुलन आ जाए।

और यज्ञ......।

यज्ञ उस कर्म का नाम है, जो तुम अपने लिए नहीं करते, जो तुम समष्टि के लिए करते हो। जो तुम अपने लिए नहीं करते, सबके लिए करते हो। यज्ञ वैसा विराट कर्म है, जिसमें तुम्हारी अपनी कोई स्वयं की आकांक्षा नहीं है। जो स्वयं की आकांक्षा से किया जाए, वह यज्ञ नहीं है। सबके लिए करते हो।

समझो, तुम एक अस्पताल बनाते हो, वह यज्ञरूप हो जाता है। तुम अकेले ही थोड़े उसमें बीमार पड़कर इलाज करवाओगे, सभी के काम आएगा। तुम एक विद्यापीठ बनाते हो। तुम्हारे बच्चे ही थोड़े उसमें पढ़ेंगे; सबके बच्चे उसमें पढ़ेंगे।

जो—जो कर्म सिर्फ स्वार्थ के लिए नहीं किए जाते, वे सभी यज्ञरूप हैं। स्वार्थ के लिए तुमने बहुत कर्म किए हैं, अब तुम थोड़े परार्थ के कर्म करो।

कृष्ण कहते हैं, ऐसे भी विद्वान हैं, जो कहते हैं, यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। बाकी सब कर्म त्यागने योग्य हे।

ये चार दृष्टियां हैं। चारों सही हैं और चारों तरह के लोग मिल जाएंगे जिनके लिए ये सही हैं। इसलिए तुम इसकी बहुत फिक्र मत करना कि कौन सही है, तुम ज्यादा इसकी फिक्र करना कि मेरे साथ किस विचार का तालमेल बैठता है।

गीता तो ऐसे है, जैसे केमिस्ट की दुकान होती है। उसमें लाखों दवाइयां हैं; वे सभी काम की हैं, इसीलिए हैं। तुम कोई भी दवाई उठाकर मत ले आना! तुम अपने प्रिस्किपान को ले जाना, वह जो डाक्टर ने लिखकर दिया है। तुम्हारे योग्य कोई दवा होगी; सभी दवाएं तुम्हारे योग्य न होंगी।

गीता भारत की खोजी गई सभी औषधियों का संग्रह है। उसमें से तुम चुन लेना; उसमें तुम्हें जो मौजूं लगे, उसमें तुम्हें जो सत्यरूप लगे। सभी सत्यरूप है, पर तुम्हें जो सत्यरूप लगे, तुम उसे आत्मसात कर लेना। तुम उससे यात्रा पर निकल जाना। और सभी मार्ग वहीं पहुंचा देते हैं।

मंजिल तो एक है, मार्ग अनेक हैं। दृष्टि साफ हो, तो किन्हीं भी मार्गों से चलकर आदमी वहीं पहुंच जाता है। तुम बैलगाड़ी से चलो, थोडी देर ज्यादा लगेगी। तुम ट्रेन से चलो, थोड़े जल्दी आ जाओगे। कुछ लाभ ट्रेन के हैं, कुछ लाभ बैलगाड़ी के हैं; कुछ हानियां बैलगाड़ी की हैं, कुछ हानियां ट्रेन की हैं।

बैलगाड़ी से चलोगे, तो गति तो नहीं होगी, लेकिन अनुभव ज्यादा होगा। गति तो बहुत धीमी होगी, लेकिन पहाड़—पर्वत, नदी—नाले सभी को तुम देखते, जीते हुए आओगे। ट्रेन से चलोगे, जल्दी पहुंच जाओगे। लेकिन इतनी तेजी से निकलती रहेगी ट्रेन कि बस झलक मिलेगी पहाड़ की, नदी की, नालों की।

हवाई जहाज से आओगे, कोई झलक भी नहीं मिलेगी। यहां बैठे नहीं कि उतरने का समय आ जाएगा। चाय पी पाओगे ज्यादा से ज्यादा। और अब और द्रुत वेग के यान बनते जा रहे हैं, जिनमें तुम पट्टी बांध पाओगे और खोल पाओगे। और पहुंच जाओगे। अनुभव से वंचित हो जाओगे।

राह का भी बड़ा आनंद है।

मेरे एक मित्र हैं, वह हमेशा पैसेंजर गाड़ी से ही चलते हैं। धनी हैं, पर बड़े समझदार हैं। दिल्ली पहुंच सकते हैं घंटे भर में; जहां रहते हैं, वहा से हवाई जहाज की भी सुविधा है। मगर वे जाते हैं ट्रेन में और पैसेंजर! कई जगह बदलते हैं। तीन दिन लग जाते हैं दिल्ली पहुंचने में।

एक दफा मुझे अपने साथ ले लिए। मैंने कहा, यह मामला क्या है? चलो मैं भी चलूं! निश्चित, वे आनंद लेते हैं राह का। उनको एक—एक स्टेशन की गतिविधि पता है। कहां रसगुल्ले अच्छे बनते हैं! कहां भेजिए अच्छे बनते हैं! बड़ा भोगते हैं मार्ग को। वे दुख पाते ही नहीं पैसेंजर में। हर स्टेशन पर उतरते हैं; स्टेशन मास्टर से मिल आते हैं; कुलियों से पहचान.....। जिंदगी भर वे उसी रास्ते पर तीन—तीन दिन यात्रा करते रहे हैं अनेक बार। वे कहते हैं, यह तो अपना...... इतनी जल्दी क्या है? जाना कहां है?

वे भी ठीक कहते हैं। राह भी अपना आनंद लिए है। फिर राहें भी अलग—अलग हैं। मंजिल एक है।

तुम अपना रस पहचानना, अपना भाव समझना और राह चुन लेना।

कृष्ण सभी राहें बता देते हैं। फिर वे अपना भाव भी बता देंगे कि उनका भाव क्या है? उनकी क्या दृष्टि है? ऐसे तो उन्होंने अपनी दृष्टि कह ही दी। जैसे ही उन्होंने कहा कि कुछ विचक्षण पुरुष, वहीं उन्होंने अपना रस भी बता दिया। जब उन्होंने कहा कि कुछ विचक्षण पुरुष, कुछ अदभुत पुरुष। बस, उन्होंने चुनाव भी कर दिया। बाकी को कहा, पंडित हैं, ज्ञानी हैं, समझदार हैं, विद्वान हैं; पर एक को कहा, विचक्षण, अनूठी दृष्टि वाले लोग। वहीं उन्होंने अपना झुकाव दिखा दिया।

कृष्ण स्वयं ही वे विचक्षण दृष्टि वाले पुरुष हैं। अगर उनकी बात तुम्हें जंच जाए तो बड़ी अनूठी है। क्योंकि कुछ छोड़ना नहीं पड़ता और सब छूट जाता है; कुछ करना नहीं पड़ता और सब हो जाता है।

सार में उस विचक्षण दृष्टि की बात इतनी ही है कि तुम परमात्मा के उपकरण हो जाते हो, निमित्त मात्र। वह कराता है, तुम करते हो। वह देता है, तुम लेते हो। वह छीनता है, तुम छिन जाने देते हो। तुम बीच से हट जाते हो।

तुम कहते हो, जो तेरी मर्जी। बाजार में रखेगा, बाजार में रहेंगे। मगर वहां भी तेरा ही आनंद है; तूने ही रखा है। और तुझसे हम ज्यादा समझदार नहीं हैं। पहाड़ भेज देगा, पहाड़ चले जाएंगे। तू जहां भेज देगा, वहीं चले जाएंगे। तेरे ही कारण जा रहे हैं, यह हमारी खुशी है। तेरे काम से जा रहे है, यह हमारा आनंद है। तू हमसे कुछ उपयोग ले रहा है, हम धन्यभागी हैं।

प्रवचन 13. सातविक, राजस और तामस त्याग

सूत्र—

निश्चय श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरूषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।4।।
यज्ञदानतयः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।5।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।6।।
परंतु हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन। हे पुरूषश्रेष्ठ, वह त्याग सात्विक राजस और तामस, ऐसे तीनों प्रकार का ही कहा गया है।

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नही है, किंतु वह निःसंदेह करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ दान और तप, ये तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। इसलिए हे पार्थ, यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति को और फलों को त्याग कर अवश्य करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

पहले कुछ प्रश्न।
पहला प्रश्न : आपने कहा कि समय के प्रवाह में शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। फिर हजारों वर्ष पूर्व कही गई गीता अब तक अर्थपूर्ण कैसे रह गई है?
कृष्ण ने जो कहा था, अगर और कृष्णों ने उस पर बार—बार नए अर्थों के कलम न लगाए होते, तो वह अर्थहीन हो गई होती, बासी पड़ गई होती, सड़ गई होती, उसे समझने का फिर कोई उपाय न रह जाता। लेकिन इन हजारों वर्षों में, और बहुत कृष्णों ने गीता को फिर—फिर पुनरुज्जीवित किया, फिर—फिर कहा। हर बार गीता को फिर नया जीवन मिल गया। जब शंकर ने गीता को पुनरुज्जीवित किया, तब फिर कृष्ण दुबारा बोले।

कृष्ण कोई व्यक्ति की बात नहीं है, कृष्ण तो चैतन्य की एक घड़ी है, चैतन्य की एक दशा है, परम भाव है। जब भी कोई व्यक्ति परम भाव को उपलब्ध हुआ, उसने फिर गीता पर कुछ कहा। गीता से पुरानी राख झड़ गई, फिर गीता नया अंगारा हो गई।

ऐसे हमने गीता को जीवित रखा है। समय बदलता गया, शब्दों के अर्थ बदलते गए, लेकिन गीता को हम नया जीवन देते चले गए। गीता आज भी जिंदा है।

कुरान कभी मर जाएगा, क्योंकि कुरान पर व्याख्या की आज्ञा नहीं है। गीता कभी भी न मरेगी, क्योंकि गीता को फिर से जीवन देने की सुविधा है। कुरान, जैसा मोहम्मद ने कहा था, उसे वैसा ही बचाने की चेष्टा की गई है। उस पर कोई दूसरा मोहम्मद कुछ जोड न दे, कुछ बदल न दे!

अगर दूसरे मोहम्मदों को बदलने और जोड्ने की सुविधा न हुई, तो समय मार डालेगा। समय किसी की भी चिंता नहीं करता। सभी कुछ बासा हो जाता है।

भारत ने एक कला खोज ली है अपने शास्त्रों को सदा जीवित रखने की। वह है, उनकी पुन: —पुन: व्याख्या। फिर—फिर हम विचार करते हैं। फिर—फिर कृष्ण की चेतना से उत्तर मिल जाता है। अर्थ बदलते जाते हैं, लेकिन गीता अर्थहीन नहीं हो पाती। हर युग के अनुकूल अर्थ हम फिर खोज लेते हैं। जितना युग से पीछे रह जाती है गीता, हम उसे फिर खींच लेते हैं।

जो मैंने गीता पर इधर इन पांच वर्षों में कहा है, उससे गीता अत्याधुनिक हो जाती है; बीसवीं सदी की घटना हो जाती है। अब पिछले पांच हजार साल को हम भूल सकते हैं। जो मैंने कहा है, उसने गीता के पुराने पड़ते रूप को एकदम अत्याधुनिक कर दिया। इन पाच हजार सालों में जो भी घटा है, मनुष्य की चेतना ने जो नई—नई करवटें ली हैं, नई—नई विधाएं खोजी हैं, मनुष्य की चेतना ने जो नए अनुभव किए हैं, उन सबको मैंने समाविष्ट कर दिया है। अब गीता को नया खून मिल गया।

शब्दों पर अगर अर्थों की कलम लगती चली जाए, युग के अनुकूल अगर नए अर्थों की अभिव्यंजना होती रहे, तो किसी शास्त्र को पुराना पड़ने की जरूरत नहीं है। शास्त्र पुराना पड़ता है मतांधता से; लकीर के फकीर अगर लोग हो जाते हैं, तो शास्त्र पुराना पड़ जाता है।

हम शास्त्र के लिए थोड़े ही हैं, शास्त्र हमारे लिए है। इसलिए जब हम बदल जाते हैं, हम शास्त्र को बदल लेते हैं। ऐसे ही जैसे कि हजारों साल पहले घर में दीया जलता था, अब बिजली जलती है। अब भी तुम दीया जलाने की कोशिश करोगे, तो नासमझ हो। लेकिन दीया जलने से जो प्रकाश मिलता था, वही प्रकाश और भी प्रगाढ़ होकर बिजली से मिल जाता है।

जो शब्द कृष्ण ने अर्जुन से कहे थे, उन पर तो बहुत धूल जम गई है; उसे हमें रोज बुहारना पड़ता है। और जितनी पुरानी चीज हो, उतना ही श्रम करना पड़ता है, ताकि वह नई बनी रहे।

इसलिए समय का प्रवाह तो किसी को भी माफ नहीं करता, पर अगर हम हमेशा समय के करीब खींच लाएं पुराने शास्त्र को, तो शास्त्र पुन: —पुन: नया हो जाता है। उसमें फिर नए अर्थ जीवित हो उठते है, नए पत्ते लग जाते हैं, नए फूल खिलने लगते हैं।

गीता मरेगी नहीं, क्योंकि हम किसी एक कृष्ण से बंधे नहीं हैं। हमारी धारणा में कृष्ण कोई व्यक्ति नहीं है, सतत आवर्तित होने वाली चेतना की परम घटना है। इसलिए कृष्ण कह पाते हैं कि जब—जब होगा अंधेरा, होगी धर्म की ग्लानि, तब—तब मैं वापस आ जाऊंगा—संभवामि युगे—युगे। हर युग में वापस आ जाऊंगा। तुम यह मत सोचना कि मोर—मुकुट वाले कृष्ण हर युग में वापस आ जाएंगे। जो गया, वह गया। अब मोर—मुकुट की कोई संगति न बैठेगी। और मोर—मुकुट लगाए अगर कृष्ण को तुमने खड़ा कर दिया बाजार में, तो तुम मखौल उड़वा दोगे, तुम उनका मजाक करवा दोगे। वे नाटकीय मालूम पड़ेंगे, स्वाभाविक न मालूम पड़ेंगे अब। जो उस दिन स्वाभाविक था, आज बिलकुल नाटक हो जाएगा।. उन दिनों, कृष्ण के समय में, पुरुष पहनते थे आभूषण, स्त्रियां नहीं। वह स्वाभाविक था, ज्यादा प्राकृतिक था। प्रकृति में भी तुम जाओ, तो वही पाओगे।

मोर नाचता है। जो मोर नाचता है और जिस मोर के पास इंद्रधनुषों जैसे रंगे हुए पंख हैं, वह पुरुष है। मादा के पास कोई इंद्रधनुषी रंग नहीं हैं। कोयल पुकारती है। वह जो पुकारती है कोयल, वह पुरुष है, मादा चुप है। मुर्गे की कलगी देखी है! और जिस शान से अकड़कर चलता है! मुर्गी के पास वैसी कलगी नहीं है।

सारी प्रकृति में मादा चुप है; अपने सौंदर्य का प्रचार नहीं करती; पुरुष करता है। होना भी यही चाहिए। क्योंकि मादा के होने में ही सौंदर्य है, किसी और अतिरिक्त होने की जरूरत नहीं है। मादा के होने में ही माधुर्य है, अब और आभूषण नहीं चाहिए। जो कमी है, वह पुरुष को पूरा करनी पड़ती है।

मादा कोयल का तो चुप होना भी मधुर है; लेकिन पुरुष कोयल को तो गीत गाना पड़ेगा, तभी थोड़ा—सा माधुर्य आ सकेगा। इसलिए सारी प्रकृति में खोजने पर तुम पाओगे, पुरुष सजा— धजा है; मादा बिलकुल सादी है। उसका सादा होना ही सौंदर्य है।

उन पुराने दिनों में मनुष्य भी प्रकृति के अनुकूल था। तो कृष्ण मोर—मुकुट बांधे खड़े हैं। स्वाभाविक था। आज हालत बिलकुल उलटी हो गई है। आज पुरुष कोई आभूषण नहीं पहनता; पहने तो तुम समझोगे, कुछ दिमाग खराब है। स्त्रियां पहनती हैं। प्रकृति अस्तव्यस्त हो गई है। जो नहीं होना चाहिए, वह हो रहा है, जो होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। सभ्यता ने सब डांवाडोल करू दिया है। शिक्षण ने तुम्हारे मन की स्वाभाविकता को डिगा दिया है। स्त्री तो अपने आप में ही सुंदर है, उसे निमंत्रण भी भेजने की जरूरत नहीं है। उसे पुकारने की भी आवश्यकता नहीं है। प्रेमी उसे खोजता आएगा।

और ध्यान रखना, जब भी स्त्री आभूषण सजा लेती है....... पुराने दिनों में भी स्त्रियां सजाती थीं, लेकिन वे सिर्फ वेश्याएं थीं, नगरवधुएं थीं, जिनको बाजार में खड़ा होना था। स्त्री जब आभूषण से सज जाती है, और निमंत्रण भेजती है, तो उसने स्त्रैण तत्व खो दिया। उसने अपने भीतर के मादापन का माधुर्य खो दिया। उसे याद ही न रही कि उसका तो होना काफी है। अब सोने से लदने से उसके सौंदर्य में कुछ बढ़ेगा नहीं, घट सकता है।

तो आज कृष्ण को अगर उनकी ही रूप—रेखा में खड़ा कर दो जैसे वे थे, तो ठीक है, कोई नौटंकी, कोई नाटक में चलेगा, जीवन में नहीं चलेगा। जीवन में वे बडे बेतुके लगेंगे। जो उनके इस बाहरी रूप—रेखा के संबंध में सच है, वही उनकी भीतरी रूप—रेखा के संबंध में भी सच है। सब बदला है।

जब कृष्ण बार—बार लौटेंगे, तो हर बार नए ही होकर लौटेंगे। और हर बार कृष्ण अपनी नई—नई संभावनाओं में, उदभावनाओं में गीता पर फिर से बोल देंगे। गीता फिर पुनरुज्जीवित हो जाएगी।

अगर तुम्हें बहुत कठिनाई न हो समझने में, तो मैं ऐसा कहना चाहूंगा कि कृष्ण ही बार—बार लौटकर अपनी गीता की पुन: —पुन: व्याख्या करते रहे हैं, इसलिए वह मर नहीं पाई है।

दूसरा प्रश्न : कल आपने कहा कि अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं। कृपापूर्वक समझाएं कि इन्हें पुरुषार्थ क्यों कहा गया है?
कयोंकि इन्हीं के माध्यम से तुम्हारे भीतर जो छिपा है अर्थ, वह प्रकट होता है। तुम कौन हो, इनकी ही चुनौती में प्रकट होता है। तुम क्या हो, एक विशेष परिस्थिति में ही तमें उसकी स्मृति आनी शुरू होती है।

एक आदमी अर्थ के पीछे पागल है, धन का दीवाना है। वह धन की दीवानगी से कुछ कह रहा है कि वह कौन है। वह अपने पुरुष के अर्थ को प्रकट कर रहा है। वह निम्नतम पुरुष है। उसने जीवन के कोई ऊंचे काव्य नहीं जाने हैं। वह क्षुद्र से राजी है। वह ठीकरों को पकड़े बैठा है। जहां हीरे—जवाहरात बरस सकते थे, वहां उसने कंकड़—पत्थर चुन लिए हैं। वह अपना अर्थ प्रकट कर रहा है; वह यह कह रहा है, मैं कौन हूं।

जब कोई आदमी किसी स्त्री के पीछे भाग रहा है, तब भी वह अपना अर्थ प्रकट कर रहा है। वह कह रहा है, मैं कौन हूं। वह कह रहा है, मैं कामी हूं। कामना उसका अर्थ है इस क्षण। वह कह रहा है, मैं गुलाम हूं; वासना का दास हूं। वह कह रहा है कि मेरी जीवन की इतिश्री कामवासना है, वही मेरी परिधि है, उसके पार न मेरे लिए कोई परमात्मा है, न कोई मोक्ष है।

तुम जो कर रहे हो, उससे प्रकट करते हो कि तुम कौन हो।

धन को पकड़ने वाला व्यक्ति तो कामवासना में भी जाने से डरता है कि कहीं धन पर कोई आंच न आ जाए। कृपण तो विवाह भी करने में भयभीत होता है। कृपण किसी को पास नहीं आने देना चाहता। क्योंकि जो भी पास आएगा, वह भागीदार बनने लगेगा। कृपण की अपनी भाषा है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन से यात्रा कर रहा था। उसके पास ही बैठा था एक युवक, और उसने पूछा, क्या महानुभाव आप बता सकेंगे कि समय क्या हुआ है? नसरुद्दीन के हाथ में घड़ी थी, लेकिन उसने जल्दी अपनी घड़ी छिपा ली। और उसने कहा, माफ करिए; मैं न बता सकूंगा कि समय क्या है।

वह युवक थोड़ा हैरान हुआ। इस तरह की घटना कभी जीवन में उसके घटी न थी कि कोई समय बताने से मना कर दे। उसने पूछा, मैं समझा नहीं। इसमें आपको क्या अड़चन हो रही है?

नसरुद्दीन ने कहा, अब अगर पूरी बात ही समझनी है, तो समझाए देता हूं। लेकिन बात जरा लंबी है। अभी तुम पूछोगे, समय क्या हुआ है। फिर मैं बता दूं र बात आगे बढ़ेगी। कहां जा रहे हो, पूछोगे। मैं कहूं बंबई जा रहा हूं। तुम कहोगे, मैं भी बंबई जा रहा हूं। ऐसे ही तो आदमी बात—बात में फंसता है। तुम भी बंबई जा रहे हो; मैं बंबई ही रहता हूं। मैं कहूंगा, अच्छा, आना मेरे घर भोजन कर लेना। ऐसे ही तो आदमी उलझ जाता है। बात में से बात, बात में से बात निकलती आती है। जवान लड़की है घर में, तुम भी जवान हो, देखने—दाखने में अच्छे भी लगते हो। कोई न कोई झंझट हो जाएगी। आज नहीं कल तुम कहोगे, जरा आपकी बेटी को सिनेमा ले जा रहा हूं! और किसी न किसी दिन तुम आ जाओगे विवाह के लिए। और मैं तुमसे कहे देता हूं जिसके पास अपनी घड़ी भी नहीं, उससे मैं लड़की का विवाह नहीं कर सकता।

कृपण आदमी का अपना तर्क है। उसके देखने के अपने ढंग हैं। वह हर तरफ से रुपए को देखता है। उसको आदमी दिखाई ही नहीं पड़ते, रुपए ही दिखाई पड़ते हैं। जब वह किसी की तरफ देखता है, तो उसे रुपयों की गड्डियां दिखाई पड़ती हैं, आदमी नहीं दिखाई पड़ता। उसकी अपनी जीवन—शैली है। उसका एक ढंग है, जिसमें बंधा हुआ वह जीता है। अगर तुम्हारे पास रुपए हैं, तुमसे और तरह का व्यवहार करता है। नहीं हैं, तब और तरह का व्यवहार करता है। तुम्हारी आत्मा का कोई सवाल नहीं है; तुम्हारी जेब कितनी वजनी है, इसका ही सवाल है। जब धन होता है, तब तुम्हें पहचानता है; जब नहीं होता, तब बिलकुल पहचान छोड़ देता है; भूल ही जाता है कि तुम हो। वह अपना अर्थ प्रकट कर रहा है। तुम्हारी आकांक्षा बताती है, तुम्हारी आत्मा कहा है।

कामी कह रहा है कि मेरी आत्मा बस कामवासना में है। उसके पार उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वह मंदिर भी जाता है, तो मंदिर में प्रार्थना करती स्त्रियों को देखने 'जाता है। वह मंदिर जाता नहीं; वह प्रार्थना करता नहीं। उसका रस ही वहां नहीं है।

जो आदमी धर्म की आकांक्षा करता है, सदवचन सुनता है, सत्य की खोज में निकलता है; सोचता है, जीवन का रहस्य क्या है, वह भी अपने अर्थ को प्रकट कर रहा है। उसकी नजर मंदिर पर लगी रहेगी। वह भला बाजार में बैठा हो। भला बाजार से उठ भी न सकता हो, लेकिन नजर मंदिर पर लगी रहेगी। उसका पुरुषार्थ उसकी भावना से प्रकट हो रहा है। उसके भीतर एक अहोभाव चल रहा है निरंतर परमात्मा के प्रति। न भी जा सके, जाना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन एक अंतर्धारा बह रही है।

फिर जो आदमी मोक्ष की अभीप्सा करता है कि मुक्त हो जाऊं, सभी कुछ से मुक्त हो जाऊं, इतनी गहन अभीप्सा करता है कि अपने से भी मुक्त हो आऊं, यह स्व होने का बंधन भी न रहे; बंधन ही न रहे; शून्य होने की जो तैयारी दिखलाता है; वह एक बड़ी गहरी समझ, अपने भीतर के आखिरी फूल को प्रकट कर रहा है। उसका कमल खिल गया है।

इसलिए इनको पुरुषार्थ कहा है। ये तुम्हारे अर्थ को बताते हैं। ये तुम्हारे जीवन की सार्थकता को, व्यर्थता को सूचित करते हैं।

तीसरा प्रश्न : आपने कहा कि जैन एक पूरी बस्ती नहीं बसा सकते, इसलिए अधूरे हैं। लेकिन वही हाल तो संन्यासी का भी है, तो क्या संन्यास भी अधूरा नहीं है?
अब तक था, अब नहीं होगा। मेरा संन्यासी पूरी बस्ती बसा सकता है।

अब तक संन्यास लंगड़ा था, पंगु था, निर्भर था। और यह कैसी दुख की बात है कि संन्यासी गृहस्थ पर निर्भर हो! और जिस पर तुम निर्भर हो, उससे ऊपर होने की आकांक्षा ही नासमझी है।

संन्यासी सोचता है कि ऊपर है; और होता है निर्भर उस पर, जो उसके नीचे है। जीता श्रावक के ऊपर है, लेकिन सोचता है, मैं ऊपर हूं। श्रावक ही ऊपर है, वह खुद के लिए भी आयोजन कर रहा है, तुम्हारे लिए भी आयोजन जुटा रहा है। उसका दान बड़ा है, उसकी सेवा बड़ी है।

अब तक संन्यासी अधूरा था। और निश्चित ही, अब तक संन्यासी बस्ती नहीं बसा सकते थे। संन्यासियों के लिए दूसरों की बस्तियां चाहिए, जिनको .संन्यासी पापी कहता है, भटके हुए कहता है, अंधेरे में पड़े कहता है, मूर्च्छा में डूबे कहता है, जिनके लिए नरक का इंतजाम कर रखा है उसने, उनके ऊपर ही निर्भर होता है। यह बड़ी विडंबना की बात है। और फिर भी अपने को ऊपर मानता है। तुम जिस पर निर्भर हो, उससे ऊपर नहीं हो सकते। और होता भी नहीं। बस, दिखावा होता है। संन्यासी को बिठा देते हो तुम तख्त पर ऊपर, नीचे तुम बैठते हो। लेकिन तुम जानते हो, बागडोर तुम्हारे हाथ में है।

मेरे पास संन्यासियों की खबरें आती हैं कि वे मुझसे मिलना चाहते हैं, लेकिन अपने अनुयायियों के कारण आ नहीं सकते। उनके अनुयायी उन्हें आने नहीं देते!

यह बड़े मजे की बात है। तो अनुयायी नेता है? मार्गदर्शक है? मालिक है? है, क्योंकि वही भोजन देता है, वही औषधि देता है, वही ठहरने को जगह देता है, वही स्वागत—समारंभ करता है। उसके बिना तुम कहीं भी नहीं हो सकते। और तुम्हें वह यह भी धोखा देता है कि तुम तख्त पर ऊपर बैठ जाओ, कोई हर्जा नहीं है। क्योंकि जानता है, तुम्हारी लगाम उसके हाथ में है। वह आखिरी निर्णायक है।

यह संन्यास लकवा लगा संन्यास है। बीमार संन्यास है, रुग्ण संन्यास है।

मेरा संन्यासी पूरी बस्ती बसा सकता है; बसाएगा। क्योंकि मैं, तुम जो कर रहे हो, उससे तुम्हें नहीं तोड़ रहा हूं। तुम जो कर रहे हो, उसे पूरे भाव से करना है, यही कह रहा हूं। तुम जो कर रहे हो, उसे ईश्वर—अर्पण करके करना है, इतना ही कह रहा हूं। तुम जो भी कर रहे हो!

तुम सड़क पर बुहारी लगाते हो, कि जूते बनाते हो, कि क्या करते हो, यह सवाल नहीं है। तुम जो भी करते हो, उसे ही ध्यानपूर्वक करना है। उसे ही ऐसी तल्लीनता से करना है कि वही तुम्हारी प्रार्थना, वही तुम्हारी साधना हो जाए। तब संन्यासी पूरी बस्ती बसा सकता है। तब सारी दुनिया संन्यासी की हो सकती है। अब तक जो संन्यासी था, वह कभी भी पूरी दुनिया में नहीं फैल सकता था। क्योंकि उसके ऊपर भारी बंधन थे।

जैन संन्यासी भारत के बाहर नहीं जा पाए, क्योंकि वहा जैन श्रावक नहीं है, जो उनको भोजन देगा। पहले जैन श्रावक वहा होना चाहिए, तब जैन संन्यासी जा सकता है। नहीं तो वह भोजन कहां लेगा? वह किसी और के घर तो भोजन ले नहीं सकता! वह तो अपवित्र है। अब जब तक जैन संन्यासी न जाए, जैन श्रावक वहा कैसे हो! इसलिए वह बात ही न उठी। इसलिए जाने का सवाल ही न उठा।

इसलिए जैन सिकुड़कर मर गए। उनकी कोई संख्या है? पच्चीस लाख संख्या है! अगर महावीर ने पच्चीस जोड़ों को भी दीक्षा दी होगी, तो पच्चीस सौ साल में पच्चीस जोड़े पच्चीस लाख बच्चे पैदा कर देंगे। यह भी कोई विकास हुआ! कुंद हो गया, बंद हो गया, सब तरफ से हाथ—पैर कट गए।

न; मेरा संन्यासी सारी दुनिया में फैल सकता है, क्योंकि वह किसी पर निर्भर नहीं है। स्वनिर्भरता तभी संभव है, जब तुम अपनी रोटी खुद कमा रहे हो; अपने कपड़े खुद बना रहे हो। अपने जीवन के लिए परम मुक्त हो, किसी पर निर्भर नहीं हो, तभी तुम वास्तविक रूप से स्वतंत्र हो सकते हो।

गृहस्थ ही जब तक संन्यासी न हो जाए, गृहस्थ रहते हुए ही संन्यासी न हो जाए, तब तक संन्यास जीवंत नहीं होगा, मुरदा होगा। उसमें वास्तविक प्राण नहीं हो सकते, धड़कन उधार होगी।

चौथा प्रश्न : आपने कहा कि भगवान कृष्ण और अर्जुन के बीच मैत्री का संबंध गहन था और उसी संबंध से गीता—ज्ञान का उदय हुआ। फिर अर्जुन संदेह भी उठाता है और शीघ्र ही समर्पित शिष्य हो जाता है। कृपापूर्वक इस पर प्रकाश डालें।
जहां ही प्रेम है, वहां श्रद्धा ज्यादा दूर नहीं। प्रेम के पास ही श्रद्धा का शिखर है। श्रद्धा प्रेम का ही निखार है, निचोड़ है।

अर्जुन प्रेम तो करता है कृष्ण को, मित्र की तरह करता है। एक गहन सहानुभूति है; कृष्ण को समझने के लिए तैयारी है। कृष्ण से मन में कोई विरोध नहीं है, कोई द्वेष नहीं है। कोई प्रतिरोध नहीं है कृष्ण के प्रति। द्वार खुला है। कृष्ण मित्र हैं और जो भी कहेंगे, वह कल्याणकर होगा। कृष्ण भटकाएगे नहीं, इतना भरोसा है। इस भरोसे से देर नहीं लगती, और जहां मित्र— भाव था, वहीं गुरु—शिष्य का जन्म हो जाता है।

बुद्ध ने तो अपने संन्यासियों को कहा है कि तुम लोगों के कल्याण—मित्र होना। फिर उसी कल्याण—मैत्री से उनके मन में श्रद्धा उठेगी, तो समर्पण भी फलित होगा। बुद्ध ने कहा है कि आने वाले संसार में जो बुद्ध होगा, उसका नाम मैत्रेय होगा।

मैत्रेय का अर्थ है, मित्र। मित्रता से ही शुरुआत होती है। अगर जरा—सी भी शत्रुता है, तो श्रद्धा— भाव तो पैदा ही कैसे होगा? फिर तो द्वार ही बंद हैं। फिर तो तुम पहले से ही डरे हो; फिर पहले से ही तुम अपनी सुरक्षा कर रहे हो; फिर संवाद नहीं हो सकता।

गीता संवाद है। संवाद का अर्थ है, दो हृदयों के बीच होती बात है, दो मस्तिष्कों के बीच नहीं। दो विचार आपस में लड़ नहीं रहे हैं, संघर्ष नहीं कर रहे हैं। दो भाव मिल रहे हैं। एक संगम फलित हो रहा है।

शिष्य जब आता है शुरू में, तो शिष्य तो हो ही नहीं सकता। शिष्य होना तो बड़ी उपलब्धि है। इसलिए नानक ने अपने पूरे धर्म

का नाम ही सिक्‍ख रख दिया। सिक्‍ख शिष्य शब्द का रूप है। सारे धर्म का सार ही इतना है कि तुम शिष्य हो जाओ, सिक्‍ख हो जाओ, सीखने को तैयार हो जाओ।

साधारणत: अहंकार सीखने को तैयार नहीं होता, सिखाने को तैयार होता है। अहंकार का रस यह होता है कि किसी को सिखा दूं सलाह दे दूं।

इसलिए दुनिया में इतनी सलाह दी जाती है; कोई नहीं लेता, फिर भी लोग दिए चले जाते हैं! बाप बेटे को दे रहा है, पति पत्नी को दे रहा है, पत्नी पति को दे रही है, पड़ोसी पड़ोसी को दे रहे हैं। लोग सलाह दिए चले जाते हैं। कोई माग नहीं रहा है। दुनिया में सबसे कम मांगी जाने वाली चीज सलाह है और सबसे ज्यादा दी जाने वाली चीज भी सलाह है।

देने का बड़ा मजा है सलाह; क्योंकि देते वक्त तुम्हें लगता है कि तुम ज्ञानी हो गए और लेने वाला अज्ञानी हो गया। दूसरों को अज्ञानी सिद्ध करने का मजा लेना हो, तो सलाह देने से ज्यादा सुगम और कोई तरकीब नहीं है। बिना अज्ञानी कहे अज्ञानी सिद्ध कर दिया, दे दी सलाह!

इसलिए जिन चीजों का तुम्हें पता भी नहीं है, उनकी भी तुम सलाह देते हो। जिन्हें तुम्हारे स्वप्न में भी छाया तुमने नहीं देखी है जिनकी, उनके संबंध में भी जब सलाह देने का मौका आता है, तो तुम पीछे नहीं रहते।

सलाह देने को तो एकदम तुम उछलकर तैयार हो जाते हो। सलाह लेने को तुम इतने तैयार नहीं दिखाई पड़ते। और जो सलाह लेने को तैयार है, वही शिष्य हो सकता है। तो अहंकार तो बाधा देगा।

मित्रता का अर्थ है, तुम अपने अहंकार को बचाकर भी प्रेम कर सकते हो। शिष्यत्व का अर्थ है, तुम्हें अहंकार छोड़कर प्रेम करना पड़ेगा। मित्र का अर्थ है, मैं मैं हुं, तुम तुम हो; हम दोनों समान हैं। लेकिन हम एक—दूसरे में रस लेते हैं। शुरुआत तो मित्रता से ही होगी, अंत शिष्यत्व पर होगा।

तो अर्जुन के मन में भाव तो मैत्री का है; कृष्ण उसके सखा हैं, बचपन के सखा हैं। इस सखा— भाव से ही उसने अपने हृदय को उनके प्रति खुला छोड़ दिया है। जिज्ञासाएं उठाई हैं, लेकिन जिज्ञासाएं अदालत में उठाए गए तर्कों की भांति नहीं हैं। किसी को हराना नहीं है; कुछ जानना है; कुछ समझना है।

और कृष्ण जो उत्तर दिए हैं, धीरे— धीरे उसकी संदेह की व्यवस्था को उन्होंने तोड़ दिया; उसके संशय छिन्न हो गए। धीरे—धीरे उसके भीतर संशय की जगह श्रद्धा का आविर्भाव हुआ है। उसने आख खोलकर देखा कि जिसे उसने सखा समझा था, वह सिर्फ सखा नहीं है। सखा में विराट के दर्शन हुए हैं।

तुमने भी जिसे सखा समझा है, वह सखा ही नहीं है। तुमने जिसे पत्नी समझा है, वह पत्नी ही नहीं है। तुमने जिसे बेटा समझा है, वह बेटा ही नहीं है। किसी दिन आंखें खुलेंगी, तो तुम पाओगे वही विराट! सभी तरफ विराट है, वही छिपा है।

तुम यह मत सोचना कि यह कोई चमत्कार है, जो कृष्ण ने दिखा दिया। यह चमत्कार नहीं है, जो कृष्ण ने दिखा दिया। यह चमत्कार है, जो अर्जुन ने देख लिया।

अर्जुन जैसे—जैसे खुलता गया और जैसे—जैसे सरल होता गया, उसकी ग्रंथि अहंकार की जैसे—जैसे टूटी, जैसे—जैसे उसने कृष्ण को गौर से देखा कि जिसमें हमने सखा देखा था, वह सिर्फ सखा नहीं है, परम गुरु उसमें छिपा है! जैसे—जैसे यह भाव प्रगाढ़ हुआ, वह पुराना सखा कृष्ण खो गए।

एक अर्थ में यह घटना बड़ी कठिन है, मित्र में परमात्मा को देखना। क्योंकि जिसे तुमने मित्र की तरह जाना है, उसे परमात्मा की तरह जानने में बड़ी अड़चन हो जाती है।

इसलिए जीसस ने कहा है कि पैगंबर की पूजा अपने ही गांव में नहीं होती।

ठीक है बात। क्योंकि गांव के लोग जानते हैं, तुम कौन हो। अगर जीसस अपने गाव जाते, तो लोग कहते, बढ़ई का लड़का है, वह जोसेफ का लड़का है। दिमाग फिर गया है। ऊंची—ऊंची बातें करने लगा है। कोई मानने को राजी न होता कि बढ़ई का लड़का और शान को उपलब्ध हो गया है।

हम भूल ही नहीं सकते बाहर की परिधि को, क्योंकि वही हमारा परिचय है।

कबीर ज्ञान को उपलब्ध हो गए। एक सुबह नदी पर, गंगा पर स्थान करने गए हैं। देखा एक पड़ोसी, परिचित है, ऐसे हाथ से ही चुल्ल भर— भरकर स्नान कर रहा है। तो उन्होंने जल्दी से अपना लोटा मांजा और उसको दिया कि लोटे से स्नान कर लो, ऐसे चुल्ल से भर— भरकर स्नान कितनी देर में कर पाओगे!

उस आदमी ने कहा, सम्हालकर रख अपना लोटा, जुलाहे! क्या जुलाहे का लोटा लेकर हम अपने को अपवित्र करेंगे! वह मुहल्ले का ही आदमी था। कबीर जुलाहा हैं, यह भूलना उसे मुश्किल है। कबीर ने कहा कि बडी गजब की बात तुमने कह दी। लेकिन जब यह लोटा ही तुम्हारी गंगा में स्नान करने से पवित्र न हुआ, तुम कैसे हो जाओगे? तुमने मेरी तो दृष्टि खोल दी; अब गंगा में नहाने न आऊंगा। क्या सार! लोटे को घिस—घिसकर परेशान हो गया और साफ न हुआ, शुद्ध न हुआ। जुलाहे का लोटा, जुलाहे का रहा। तो तुम स्थान कर—करके क्या पा लोगे?

लेकिन जिसको तुमने जुलाहे की तरह जाना है, उसे गुरु की तरह जानना मुश्किल हो जाता है। जीसस ठीक कहते हैं, पैगंबर की पूजा अपने ही गांव में नहीं होती। एक अर्थ में तो मित्र को परमात्मा की तरह जानना बहुत कठिन, है। और एक अर्थ में बिना मित्र बनाए परमात्मा को पहचानना कठिन है। क्योंकि तब शुरुआत ही कैसे होगी!

तो तुम पर निर्भर करेगा। अगर तुम थोड़े सजग हो, तो मित्रता धीरे—धीरे, धीरे— धीरे गहरे में ले जा सकती है। अगर तुम बेहोश हो, तो मित्रता नीचे उतार सकती है। मित्रता ऊपर जाने वाली सीढ़ी भी बन सकती है और मित्रता नीचे जाने वाली सीढ़ी भी बन सकती है। अक्सर तो ऐसे ही होता है कि मित्रता नीचे जाने वाली सीढ़ी बनती है। जब तक दो व्यक्ति एक—दूसरे को मां—बहन की गाली न देने लगें, तब तक समझना मित्रता पूरी नहीं है, तब समझो कि पक्की है। इतने नीचे जब तक न उतर जाएं, तब तक मित्रता सिद्ध ही नहीं होती!

तुम दो व्यक्तियों के व्यवहार को देखकर कह सकते हो कि गहरी मित्रता है या नहीं। अगर गाली वगैरह दे रहे हैं और मजे से हंस रहे हैं, तो समझो कि मित्रता है। साधारण सौजन्य भी छूट जाता है, साधारण संस्कार भी छूट जाते हैं। दोनों अपने निम्न तल पर उतर आते हैं, तब मित्रता मालूम पड़ती है।

अर्जुन अनूठा व्यक्ति रहा होगा। इसलिए कृष्ण अगर उसे पुरुषश्रेष्ठ कहते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। मित्र के भीतर परमात्मा को देख लिया! जिसे बचपन से जाना है, उसके भीतर अनजान की झलक पा ली। जो बिलकुल ज्ञात मालूम होता है, उसके भीतर अज्ञात का द्वार खुल गया।

इस मैत्री से ही गीता जन्मी है। इस मैत्री के भाव से ही अर्जुन शिष्य हुआ और कृष्ण को गुरु होने का मौका दिया।

क्योंकि ध्यान रखना, कोई तुम्हारे ऊपर गुरु नहीं हो सकता; तुम मौका दे सकते हो। गुरु कोई जबरदस्ती नहीं है। गुरु तुम्हारे ऊपर अपने को थोप नहीं सकता। क्योंकि गुरु कोई हिंसा नहीं है, आक्रमण नहीं है। इसलिए दुनिया में कोई गुरु नहीं बन सकता, केवल शिष्य गुरु बना सकता है। वह तुम्हारी ही भाव—दशा है।

शिष्य ही गुरू को निर्मित करता, एक अर्थों में। क्योंकि जैसे ही यह झ़ुकता है, वैसे ही गुरु पैदा होता है। जितना झुकता है, उतनी ही गुरुता का दर्शन होता है।

अर्जुन धीरे — हार झ़ुकता गया है। उसने अपनी सब जिज्ञासाएं उठा ली हैं; सब प्रश्न उठा लिए हैं। कृष्ण उसके एक—एक प्रश्न को काटते गए हैं, बड़े धीरज से। क्योंकि गुरु को तो बहुत धैर्य रखना जरूरी है। अज्ञान इतना गहरा है और मन के इतने पुराने जाल हैं कि तुम एक तरफ से सम्हाली, दूसरी तरफ से बिगड़ जाता है। दूसरी तरफ से सम्हालो, तीसरी तरफ से बिगड़ जाता है। और मन अंत तक चेष्टा करता है जीतने की।

जब शिष्य गुरु के पास आता है, तो गुरु और शिष्य के मन के बीच एक गहन संघर्ष शुरू होता है। इस बात को थोड़ा समझ लेना। जब भी शिष्य गुरु के पास आता है, तब शिष्य के मन और गुरु के बीच संघर्ष शुरू होता है। शिष्य के हृदय और गुरु के बीच तो मैत्री होती है। लेकिन शिष्य की बुद्धि, विचार और गुरु के बीच बड़ा संघर्ष होता है।

ये दोनों ही बातें होनी चाहिए कि हृदय में मैत्री का भाव हो, तो संवाद पैदा हो सकेगा। गुरु जो कहेगा, वह समझ में आ सकेगा। क्योंकि समझ अंततः हृदय की है, प्रेम की है। और अगर हृदय में वह भाव न हो, सिर्फ बुद्धि में प्रश्न हों, तो तुम शिष्य नहीं हो। तुम सिर्फ कुतूहलवश, जिज्ञासावश आ गए हो। तुम रूपांतरित होने को नहीं आए हो। तुम कुछ शब्दों का संग्रह करके लौट जाओगे। तुम थोड़े पंडित हो जाओगे। तुम मिटोगे नहीं; तुम थोड़े—से और आभूषण अपने अहंकार के लिए जुटा लोगे।

मन में तो प्रश्न उठेंगे ही। जैसे वृक्षों में पत्ते लगते हैं, ऐसे मन में प्रश्न लगते हैं। लेकिन अगर हृदय में प्रेम हो, तो गुरु जीत जाएगा, शिष्य हारेगा। और शिष्य का हारना ही शिष्य की जीत है। गुरु का जीतना ही शिष्य की जीत है। क्योंकि गुरु जीत जाए, तो ही तुम उठोगे उस कचरे से, जहां तुम पड़े हो। अगर तुम जीत गए, तो तुम वहीं पड़े रह जाओगे।

अर्जुन हारने को राजी है, लेकिन जल्दी हारने को भी राजी नहीं है। क्योंकि अगर तुम जल्दी हार गए तो भी धोखा होगा। मन में प्रश्न बने ही रह जाएंगे, जो बार—बार उठेंगे, हमेशा लौट—लौटकर आ जाएंगे।

तो अर्जुन अपनी सारी जिज्ञासाएं रख लेता है। मन जो भी उठा सकता है, उठा लेता है, उसमें कंजूसी नहीं करता। और हृदय के प्रेम में जरा भी बाधा नहीं डालता। हृदय का द्वार खुला रहता है और गुरु मन को काटे चला जाता है।

कृष्ण तो एक तलवार हैं, वे अर्जुन के एक—एक संशय को गिराए जा रहे हैं। लेकिन इतना भरोसा होना चाहिए, किसी के हाथ में तलवार देखकर भय न पैदा हो जाए। किसी के हाथ में तलवार देखकर ऐसा न लगे कि क्या पता, यह संशय काटते—काटते मुझको ही नहीं काट देगा! इतना भरोसा चाहिए कि यह बीमारी ही काटेगा।

जैसे तुम एक सर्जन के पास जाते हो, तो भरोसा चाहिए। तुम लेट जाते हो, तुम बेहोश कर दिए जाते हो। तुम भरोसा रखते हो कि यह आदमी बीमारी की ग्रंथि ही काटेगा, टयूमर ही निकालेगा। अब बेहोश हालत में यह क्या करेगा, पता नहीं। लेकिन एक भरोसा है, एक ट्रस्ट है, एक श्रद्धा है।

इसलिए धर्म की परम घटना बिना श्रद्धा के नहीं घटती, क्योंकि धर्म सबसे बड़ी सर्जरी है। जिसमें तुम्हारा सबसे बड़ा टयूमर, अहंकार निकाला जाएगा। और तुम्हारे जीवन की सारी संशय की रुग्ण, जितने रोगाणु हैं, उन सबको बाहर फेंका जाएगा। वह सबसे बड़ी शुद्धि है, आमूल रूपांतरण है, जड़—मूल से बदलाहट है। उतनी ही बड़ी श्रद्धा भी चाहिए। ऐसी श्रद्धा न हो, तो बेहतर है गुरु के पास मत जाना।

मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन गया था चिकित्सक के पास। जैसे ही चिकित्सक ने उसे कहा कि लेटी टेबल पर; उसने जल्दी से खीसे में हाथ डाला, अपना बटुआ निकाला। चिकित्सक ने कहा, कोई फिक्र नहीं; फीस बाद में दे देना। उसने कहा, फीस कौन दे रहा है! हम अपने रुपये गिन रहे हैं। आपरेशन के बाद गिनने में क्या सार! पहले गिन लेना उचित है। कितने थे, इतना पक्का तो होना चाहिए; आपरेशन के बाद वापस गिन लेंगे।

इतना भी भरोसा न हो, तो गुरु के पास जाना ही मत। अगर गुरु के पास भी हाथ जेब में पड़ा रहे और बटुए में नोट गिनते रहो और संदेह बना रहे......।

संदेह के होने में कोई बुराई नहीं है; मन में ही हो, हृदय में न हो। हृदय भरोसा करता हो। तो वह परम घटना घट सकती है। तुम्हारे मन की मृत्यु हो जाएगी और तुम विराट जीवन को उपलब्ध हो सकोगे।

पांचवां प्रश्न : आपने कहा कि सदगुरु ही शिष्य को खोजता है और विश्व के सुदूर कोनों से अपने होने वाले शिष्यों को आप पूना बुला रहे हैं। यदि सदगुरु कुछ नहीं करता, तो यह शिष्य का खोजना, उसे अपने पास बुलाना आदि घटनाएं किस प्रकार घटती हैं?
बस, घटती हैं। जैसे पानी भागा चला जाता है सागर की तरफ। जैसे दीए की लौ उठती है आकाश की तरफ। कोई दीया चेष्टा थोड़े ही करता है कि आकाश की तरफ उठे। और चेष्टा करेगा, तो गिरेगा किसी न किसी दिन, थक जाएगा। लेकिन दीया थकता ही नहीं; उसकी ज्योति उठे ही चली जाती है। अगर नदियां चेष्टा करती हों, अगर गंगा श्रम करती हो सागर की तरफ जाने का, कभी तो थकेगी।

श्रम से तो कभी न कभी थक ही जाओगे। तो फिर गंगा कहेगी, जाने भी दो, कुछ दिन छुट्टी। लेकिन बहे चली जाती है, बहे चली जाती है। यह बहना एक स्वाभाविक कृत्य है।

जैसे पानी गड्ढे की तरफ बहता है, ऐसा जब भी कहीं गुरुत्व पैदा होता है, तो जिनकी भी खोज है, वे बहे चले आते हैं। कोई कुछ करता नहीं। गुरु शिष्य को ऐसे ही बुलाता है, जैसा गड्ढा पानी को बुलाता है। कोई बुलाता नहीं है। जैसे चुंबक खींच लेता है, बिना खींचे। कोई खींचने के लिए उपक्रम थोड़े ही करना पड़ता है। नहीं तो चुंबक को भी विश्राम करना पड़े; बारह घंटे खींचे और बारह घंटे विश्राम करे! नहीं, विश्राम की जरूरत ही नहीं आती, क्योंकि श्रम नहीं है यह।

तुम मेरे पास हो; न तो तुम चेष्टा करके आ गए हो, न मैंने चेष्टा करके तुम्हें बुला लिया है। बस, यह घटना मेरे और तुम्हारे बीच घटी है कि तुम आ गए हो और मैं यहां हूं। यह उतनी ही प्राकृतिक है, जैसे गंगा सागर में गिरती है।

धर्म में, धर्म के गहनतम रूप में कर्तृत्व का सवाल ही नहीं है। और गुरु अगर कुछ करता हो, तो गुरु ही नहीं है। गुरु तो अकर्ता है। कर्ता तो खो गया है, क्योंकि कर्ता का तो अर्थ ही अहंकार होता है। इसलिए एक बड़ी रहस्यपूर्ण बात है, वह यह कि गुरु के पास बैठ—बैठकर धीरे— धीरे कुछ होता है। गुरु करता नहीं है, तुम करते नहीं हो, पर घटता है। इसको हमने सत्संग कहा है। यह संसार का सबसे बडा रहस्य है।

सत्संग का अर्थ है, शिष्य बैठा है, गुरु बैठे हैं; साथ—साथ हैं। घटता है, इन दोनों की मौजूदगी में कुछ घटता है। जिसकी खोज है, वह खोज लेता है। जिसके पास देने को है, वह बांट देता है।

पर यह भाषा के साथ तकलीफ है, क्योंकि हम तो जो भी कहेंगे, उसमें ही किया आ जाएगी। क्योंकि भाषा में हमने ऐसा कोई भी शब्द नहीं जाना, जान भी नहीं सकते। क्योंकि भाषा तो संसारी आदमी बनाता है, कर्ता का भाव वाला आदमी बनाता है। वहां तो सभी क्रियाएं हैं।

एक आदमी बैठता है, वह कहता है, हम ध्यान कर रहे हैं। अब ध्यान कहीं किया जाता है! तुम तो यह भी कहते हो कि हम प्रेम कर रहे हैं। प्रेम कहीं किया जाता है! होता है। जब होता है, तब होता है; नहीं होता, नहीं होता। जब नहीं होता, तब करके दिखाओ? जैसे मैं तुम्हें दे दूं किसी व्यक्ति को और कहूं चलो, इसको प्रेम करके दिखाओ। दिखा सकोगे?

ही, अभिनय कर सकते हो। गले लगा लो। लेकिन हड्डियां हड्डियों से मिलेंगी, हृदय में कोई उदभावना न होगी। क्या करोगे अगर मैं कहूं कि इस व्यक्ति को प्रेम करो, इसी समय! कुछ न कर सकोगे। ज्यादा से ज्यादा अभिनय कर सकोगे। धोखा है अभिनय, झूठ है अभिनय। प्रेम तो होता है, तो होता है। नहीं होता, तो नहीं होता। लेकिन प्रेम में कितनी घटनाएं घटती हैं!

ध्यान, लोग कहते हैं, ध्यान कर रहे हैं। ध्यान कर रहे हैं, कहना ठीक नहीं है। ध्यान में हैं, इतना कहना ठीक है। क्योंकि करोगे कैसे ध्यान? अगर करने वाला मौजूद रहा, तो तुम बाहर ही बाहर घूमते रहोगे; भीतर कैसे जाओगे? करने वाला कभी भीतर गया है?

जब सब करना छूट जाता है, तब तुम भीतर होते हो। जब विचार का कृत्य भी नहीं रह जाता, कोई किया की लहर तुम्हारे पास नहीं रह जाती, तब तुम भीतर होते हो। ध्यान में व्यक्ति होता है; ध्यान किया नहीं जा सकता।

प्रार्थना कर सकते हो? बकवास कर सकते हो, उसको तुम प्रार्थना कहते हो! प्रार्थना भाव—दशा है। तुम प्रार्थना में हो सकते हो। प्रार्थना में सन्नाटा हो जाएगा, मौन हो जाएगा। मन चुप होगा। कहीं कोई आवाज न उठेगी। एक गहन सन्नाटा छा जाएगा। उसी सन्नाटे में तुम झुकोगे। उसी सन्नाटे में तुम परमात्मा में गिरोगे। उसी सन्नाटे में तुम स्वीकार किए जाओगे, अंगीकार होओगे।

प्रार्थना में हो सकते हो, प्रार्थना कर नहीं सकते। और तुमने प्रार्थना की, तो वहां विवश अभिनय हो जाएगा।

मंदिरो में पुजारी प्रार्थना कर रहे हैं; अभिनय चल रहा है! कैसा मजा है! नौकर रख छोड़े हैं तुमने मंदिरों में, जिनको तुम तनख्वाह देते हो प्रार्थना करने की। वे जिंदगीभर प्रार्थना करते रहते हैं। और कुछ भी नहीं घटता।

रामकृष्ण को मंदिर में रखा गया था, भूल से ही हो गई यह बात। क्योंकि ऐसा पुजारी कोई नौकरी करने नहीं आता। गरीबी थी, तकलीफ में थे, राजी हो गए। राजी होने में गरीबी ही नहीं थी, करुणा भी थी। क्योंकि जिस महिला ने यह मंदिर बनाया दक्षिणेश्वर का कलकत्ते में, वह शूद्र थी। कोई ब्राह्मण उसके यहां नौकरी करने को राजी न था। शूद्र के मंदिर में कौन ब्राह्मण करने को प्रार्थना जाए? भगवान भी शूद्र ने बनवाया हो, तो शूद्र हो जाता है। अब शूद्र भगवान की कौन पूजा करे! कोई भ्रष्ट होना है? आदमी के तर्क बड़े अदभुत हैं।

और वह महिला निश्चित ही बडी अदभुत महिला थी। रानी रासमणि उसका नाम था। वह बड़े भाव से उसने मंदिर बनाया था। लेकिन पुजारी न मिले मंदिर में। और वह शूद्र थी, इसलिए खुद मंदिर के गर्भ—गृह में प्रवेश करने से डरती थी कि अगर मैंने भीतर प्रवेश किया, तो कहीं लोगों को पीड़ा न हो, दुख न हो। अन्यथा वह भी पूजा कर सकती थी। वह मंदिर के द्वार पर बाहर से पूजा करके जाती थी। वह ज्यादा ब्राह्मण थी उन ब्राह्मणों से, जो मंदिर में पूजा करने को राजी नहीं थे, क्योंकि इसमें पैसा रासमणि का लगा था। रामकृष्ण राजी हो गए, संयोग ही था, दयावश, करुणावश, और गरीबी थी, नौकरी चाहिए थी। और नौकरी उन्हें कहीं और मिल भी न सकती थी। क्योंकि वे कुछ अनूठे ढंग के पुजारी थे, जैसा कि पुजारी होते नहीं या कि सिर्फ असली पुजारी होते हैं।

तो यह संयोग मिल गया, रासमणि को पुजारी नहीं मिलता था, रामकृष्ण को पूजा का मंदिर नहीं मिलता था। जम गई बात।

मगर थोड़े ही दिन में अड़चन शुरू हो गई। ट्रस्टी थे मंदिर के, उन्होंने रासमणि को कहा कि यह पुजारी न चलेगा। इससे तो बिना पूजा का मंदिर रहे, वह बेहतर। प्रतीक्षा करें हम, कोई ब्राह्मण आ जाएगा ढंग का। यह तो ढंग का आदमी ही नहीं है। क्योंकि इसने तो ऐसे जघन्य अपराध किए हैं कि क्षमा नहीं किया जा सकता। क्या अपराध थे? अपराध ये थे कि कभी तो पूजा करते वे, कभी न करते। एक अपराध तो यह था। कभी दिनों बीत जाते, वे जाते ही न मंदिर में और कभी दिन—दिनभर पूजा चलती।

अब यह भी कोई ढंग है! पूजा तो नियम से होनी चाहिए, पूजा तो एक रूटीन है। जैसे मिलिट्री में होता है, बाएं घूम, दाएं घूम। जल्दी से किया, पूजा पूरी हुई, अपने घर गए, पुजारी घर गया।

रामकृष्ण से पूछा गया, यह क्या गड़बड़ है? उन्होंने कहा कि जब होती है, तब होती है। जब नहीं होती, मैं क्या करूं! क्या मैं झूठ करूं? क्या भगवान के सामने झूठा खड़ा होकर हाथ हिलाऊं, सिर हिलाऊ? कुछ बोलूं जो मेरे हृदय में नहीं है! जब नहीं होती है, जब मैं रेगिस्तान की तरह हूं तब कैसे जाऊं मंदिर में! जब होती है, तब जाता हूं। और जब होती है, तो जब तक होती रहती है, फिर निकलता नहीं हूं। फिर भूख—प्यास भूल जाती है, दिन बीत जाते हैं।

कभी—कभी तो ऐसा है कि बीस—बीस घंटे वे खड़े हैं; आंसुओ की धार बह रही है, नाच रहे हैं। सुनने वाले आते हैं, चले जाते हैं, सुबह होती है, सांझ होती है; मगर पुजारी लगा है।

दूसरा अपराध था कि वे पहले खुद भोग लगा लेते हैं अपने को, और फिर भगवान को प्रसाद चढ़ा देते हैं। पहले भगवान को भोग लगना चाहिए, फिर खुद प्रसाद लेना चाहिए। यहां तो सब बिलकुल उलटा मामला है!

उनसे कहा गया, कम से कम इतना तो बंद करो। क्योंकि यह तो बिलकुल ही शास्त्र के विपरीत है।

मगर प्रेम कहीं शास्त्र को मानता है? पूजा किसी शास्त्र के अनुसार चलती है? शास्त्र के अनुसार तो अभिनय चलता है, नाटक चलता है।

तो रामकृष्ण ने कहा, फिर मैं पूजा नहीं करूंगा। फिर मुझे छोड़ दें, छुट्टी दे दें। यह मैं कर ही नहीं सकता। यह मेरी मां नहीं कर सकती थी, मैं कैसे कर सकता हूं?

लोगों ने पूछा, क्या मतलब? उन्होंने कहा, मेरी मां जब भी कुछ बनाती थी, तो पहले खुद चखती थी, फिर मुझे देती थी। देने योग्य भी है या नहीं, यह भी तो पक्का होना चाहिए। तो मैं बिना चखे भगवान को दे नहीं सकता। क्योंकि कई बार मैं पाता हूं कि शक्कर कम है, कई बार पाता हुं, ज्यादा है; कई बार पाता हूं नमक है ही नहीं, कई बार कुछ भूल—चूक होती है। मैं भगवान को ऐसे नहीं कर सकता।

अब यह किसी बड़े गहन प्रेम से आती पूजा है। इसके लिए कोई शास्त्र निर्मित नहीं हुआ है, न हो सकता है। क्योंकि यह हर पुजारी की अलग होगी। हर पुजारी अपना ही शास्त्र होगा।

नहीं, गुरु कुछ करता नहीं है। वहां महान घटनाएं घटती हैं; बिना किए घटती हैं; बिना किसी की चेष्टा के घटती हैं। कोई उनके करने से थकता नहीं। शिष्य जहां राजी है, गुरु जहां मौजूद है, बस उनकी मौजूदगी दोनों की साथ चाहिए, सत्संग चाहिए; घटनाएं शुरू हो जाती हैं।

छठवां प्रश्न : अर्जुन संदेह और संदेह उठाता है; कृष्ण प्रत्युत्तर भी देते जाते हैं। ठीक वैसे ही हमारे भीतर भी प्रश्नों का मंथन चलता है। लेकिन मुश्किल यह है कि आपको बहुत बार सुनकर, पढ़कर भीतर से ही उत्तर भी तत्क्षण आ जाते हैं। इससे अंतत: उलझाव तो बना ही रहता है। क्या करें?
बुद्धि से आए हुए उत्तर काम नहीं आएंगे। तुमने अगर मुझे सुना, तो दो तरह से सुन सकते हो। एक तो ?ए? तुम्हारी बुद्धि है, तर्क है, विचार है, वहां से सुन सकते हो। मेरी बात जंच सकती है, ठीक है। लेकिन यह जंचना हृदय का नहीं है। मेरा तर्क तुम्हारे तर्क को काट सकता है। लेकिन यह काट मन से गहरे न जाएगी।

तो तुम्हारे भीतर जब प्रश्न उठेंगे, उत्तर भी उठेगा। लेकिन प्रश्न भी मस्तिष्क में होंगे, उत्तर भी मस्तिष्क में होगा। उत्तर गहरे से आना चाहिए, हृदय से आना चाहिए, तब काटेगा। उत्तर प्रश्न से ज्यादा गहराई से आना चाहिए, तभी सुलझाव बनता है, नहीं तो सुलझाव नहीं बनता।

तो जब तुम पाओ—इसको कसौटी समझो—जब तुम पाओ कि कोई उत्तर तुम्हारे भीतर आया, लेकिन सुलझाव नहीं आता, समझ लेना, वह उत्तर उत्तर ही नहीं है। अभी खोज जारी रखनी है। अभी प्रश्न को सम्हालो, अभी उत्तर की फिक्र मत करो। अभी और पूछना है, अभी और जानना है, अभी और सिर रगड़ना है।

तुमने जल्दी उत्तर मान लिया है। प्रश्न मरा नहीं है और उत्तर मान लिया है। तो प्रश्न तो बार—बार सिर उठाएगा। और तुम्हारा उत्तर नपुंसक है, तुम्हारा प्रश्न ही बलवान है और तुम्हारा उत्तर कमजोर है। इसीलिए तो सुलझाव नहीं आता।

तो और पूछना पड़ेगा अभी। अभी और खोजना पडेगा। तुमने जल्दी ही उत्तर को स्वीकार कर लिया है, इसीलिए अड़चन आ रही है। इतनी जल्दी न करो।

कोई जल्दी नहीं है। अनंत काल शेष है। धीरज से चलो। ऐसा न हो कि उठाए गए कदम फिर—फिर उठाने पड़े। ऐसा न हो कि फिर—फिर पीछे लौटना पड़े। कुछ अधूरा मत छोड़ जाओ।

जो प्रश्न तुम्हारे भीतर है, जब तक हल ही न हो जाए, तब तक जल्दी मत समझ लेना कि हल हो गया। मन चाहता भी है कि जल्दी हल हो जाए। क्योंकि मन की एक दूसरी बीमारी है, जल्दी, अधैर्य। तो भोजन पका ही नहीं, तुम कच्चा ही उतार लेते हो चूल्हे से, फिर पेट में दर्द होता है। भोजन को पकने दो, इतनी जल्दी मत करो। जल्दी किए कुछ भी न होगा। जितनी जल्दी करोगे, उतनी देर हो जाएगी।

धीरज से चलो। कहीं पहुंचने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम जहां हो, वहीं सब मिल जाने वाला है। कोई यात्रा नहीं है। तुम जो हो, वहीं सब छिपा है। खजाना तुम्हारे साथ है, कुंजी भला खो गई हो, लेकिन खजाना नहीं खो गया है। इसलिए घबड़ाओ मत और जल्दी मत करो।

एक—एक प्रश्न को सुलझाओ और प्रेम से सुलझाओ, क्योंकि हर प्रश्न के सुलझाने में तुम भी सुलझोगे। अगर प्रश्न को तुमने ऐसे ही टाल दिया, समझा—बुझा लिया अपने को ऊपर—ऊपर कि हल हो गया, सांत्वना बना ली, संतोष तो न हुआ और सांत्वना बना ली, तो प्रश्न फिर सिर उठाएगा। तुम ज्यादा देर उससे बचे न रह सकोगे। फिर तुम उत्तर दिए चले जाओ, वह उत्तर उधार है, वह तुमने मुझसे ले लिया, वह तुम्हारे भीतर घटा नहीं।

जल्दी नहीं है। मैं जो उत्तर दे रहा हुं, उन्हें बीज की तरह लो। वे वृक्ष नहीं हैं। अगर तुमने मेरे उत्तर को वैसा ही स्वीकार कर लिया जैसा मैंने दिया है, तो तुम जरूर पाओगे, अड़चन आएगी। क्योंकि मेरा उत्तर मेरा उत्तर है। वह तुम्हारा कैसे हो सकता है?

मेरे उत्तर को तो इशारे की तरह लो, बीज की तरह लो। वृक्ष तो तुम्हारा तुम्हारे भीतर पैदा होगा। मेरी तरफ से इंगित ले लो, फिर अपने उत्तर को आने दो धीरज से। एक दिन तुम पाओगे, जैसे तुम्हारे भीतर प्रश्न उठा है, ऐसे ही तुम्हारा अपना उत्तर भी आ गया है। तुम्हारा प्रश्न है, तो तुम्हारा ही उत्तर हल करेगा। मेरे उत्तर से तुम्हारे उत्तर को पास आने की सुविधा हो सकती है, लेकिन मेरे उत्तर को तुम अपना उत्तर मत बना लेना। अन्यथा तुम उधारी में पड़ जाओगे। और धर्म नगद सत्य है, वह उधार नहीं है।

अब सूत्र :
परंतु हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन।

कृष्ण कहते हैं, मेरे निश्चय को सुन। यह शब्द समझ लेने का है। बहुत कीमती है।

चित्त की दो दशाओं में निश्चय का भाव पैदा होता है। एक, जब तम तर्क से, विचार से, मंथन से किसी निष्कर्ष पर पहुंचते हो, तब भी लगता है, निश्चय हुआ। लेकिन वह निश्चय क्षणभंगुर है। नए तर्क आएंगे, और वह निश्चय डगमगा जाएगा। नई संभावनाएं होंगी, और वह निश्चय टूट जाएगा।

तो तर्क से जो निश्चय आता है, उसको निष्कर्ष कहो, निश्चय मत कहो। वह सिर्फ निष्कर्ष है, कनक्यूजन है, डिसीजन नहीं है। इसलिए वह हमेशा अस्थायी है।

— जैसे विज्ञान है। विज्ञान निष्कर्ष लेता है, निश्चय नहीं। न्यूटन ने कुछ खोजा, तो कुछ निष्कर्ष लिए। फिर आइंस्टीन ने उनको गलत कर दिया, खोज आगे बढ गई। आइंस्टीन न्यूटन का दुश्मन नहीं है। न्यूटन की खोज को ही आगे बढ़ाया। उसी खोज को आगे खींचने से पता चला कि बहुत—सी चीजें बदलनी पड़ेंगी; वह निष्कर्ष बदलना पड़ा। आइंस्टीन के जाते ही दूसरे लोग आइंस्टीन को आगे खींच रहे हैं, निष्कर्ष बदल रहे हैं।

इसलिए विज्ञान कभी भी निश्चयात्मक रूप से कुछ भी न कह सकेगा। उसके निष्कर्ष बदलते ही रहेंगे।

तर्क कभी भी निश्चय पर नहीं पहुंचता। उसके सभी निश्चय निष्कर्ष होते हैं। फिर नया कोई तर्क उठा, फिर कोई नई घटना घटी, फिर से डावाडोल हो जाता है।

लेकिन कृष्ण यह नहीं कहते कि मैं तुझे अपना निष्कर्ष बताता हूं। वे कहते हैं, मैं तुझे अपना निश्चय बताता हूं। निश्चय हम उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें कोई बदलाहट न होगी, समय की धारा जिसमें कोई परिवर्तन न लाएगी। कुछ भी घट जाए, कैसी भी स्थितियां बदल जाएं, निश्चय नहीं बदलेगा।

निश्चय का अर्थ है, जिसे हमने तर्क के ऊहापोह से नहीं, बल्कि आत्म—जागरण से पाया है। अंधेरे में तुम टटोलते हो, उस टटोलने से तुम जो निष्कर्ष लेते हो, वह निष्कर्ष है। फिर रोशनी हो गई, उस रोशनी में तुम जो निष्कर्ष लेते हो, वह निश्चय है।

समझो कि राह पर तुमने देखा, तुम चले आ रहे हो, दूर तुम्हें दिखाई पड़ता है कि कोई खड़ा है, मालूम होता है कोई चोर, कोई शरारती छिपा है वृक्ष के नीचे। बिलकुल ठीक लगता है, निष्कर्ष तुमने ले लिया, घबड़ाहट भी आ गई। लेकिन मजबूरी है, राह से गुजरना ही पड़ेगा। तुमने अपने हाथ में डंडा भी सम्हाल लिया। तुम अपने निष्कर्ष के अनुकूल तैयार भी हो गए।

थोड़ी दूर आगे जाकर तुम पाते हो कि नहीं, यह कोई चोर नहीं है, यह तो पुलिसवाला है। निष्कर्ष बदल गया। तुमने अब डंडे को शिथिल छोड़ दिया। मस्ती से फिर चलने लगे। और पास गए, तो जाकर देखा, वहां पुलिसवाला भी नहीं है, वह तो सिर्फ बिजली का खंभा है।

परिस्थिति बदलती है, निष्कर्ष बदल जाते हैं। क्योंकि नई परिस्थिति के अनुकूल निष्कर्ष को होना चाहिए। लेकिन निश्चय नहीं बदलता। निश्चय परिस्थिति पर निर्भर ही नहीं है, नहीं तो बदलेगा। निश्चय तो आत्मनिर्भरता है। तुम अपने भीतर इतने इकट्ठे हो गए हो, एकजुट हो गए हो; तुमने भीतर एक ऐसी योग की स्थिति पा ली है, एक ऐसी समाधि पा ली है, एक ऐसा समाधान मिल गया है, अब कोई भी बदल न सकेगा।

विज्ञान निष्कर्ष तक पहुंचता है, धर्म निश्चय तक। विज्ञान संदेहों को हल करके निष्कर्ष लेता है। धर्म संदेह से मुक्त होकर निश्चय लेता है। विज्ञान में संदेह मौजूद ही रहता है, छिपा रहता है भीतर, परदे की आड़ में। धर्म में संदेह की मृत्यु हो जाती है, लाश निकल जाती है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन, उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन। मैं कोई पंडित की तरह नहीं बोल रहा हूं कृष्ण उससे कह रहे हैं। मैं कोई विचारक की तरह नहीं बोल रहा हूं। यह मेरे जीवन का निश्चय है। ऐसा मैंने जाना है।

एक अंधा आदमी प्रकाश के संबंध में बोले, तो वह निष्कर्ष से ज्यादा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि अनुभव तो उसका कोई भी नहीं है। और एक आख वाला आदमी प्रकाश के संबंध में बोले, तो वह निश्चय है। और सारी दुनिया भी उससे कहे कि तुम गलत हो, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। जो अनुभव से जाना गया है, उसमें अंतर नहीं आता। अनुभव शाश्वत की उपलब्धि है।

और हम उसी को सत्य कहते हैं, जो शाश्वत है, सनातन है। इसलिए विज्ञान के पास ज्यादा से ज्यादा परिकल्पनाएं हैं, हाइपोथीसिस हैं, सत्य नहीं। सत्य तो केवल धर्म की अनुभूति है।

हे अर्जुन, मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ.......।

अर्जुन को कृष्ण बार—बार पुरुषश्रेष्ठ कहते हैं, बड़े भाव से कहते हैं।

शिष्य जितना ज्यादा झुकता जाता है, उतना ही श्रेष्ठ होता जाता है। यह विरोधाभास है। तुम सोचते हो, जितने अकड़े खड़े रहेंगे, उतने ही श्रेष्ठ हो जाएंगे। गुरु के सामने तुम जितने अकड़ते हो, उतने ही निकृष्ट सिद्ध होते हो। वहां तो झुकना ही कला है। वहा तो तुम जितने झुकते हो, उतने ही श्रेष्ठ होते चले जाते हो। वहां तो तुम बिलकुल झुक जाते हो, तो तुम श्रेष्ठता की आखिरी परम सीमा हो जाते हो।

अर्जुन पुरुषश्रेष्ठ है। वह झुकता जा रहा है, प्रतिपल झुकता जा रहा है। और पुरुषश्रेष्ठ इसलिए भी है कि अब उसने संन्यास और मोक्ष की जिज्ञासा की है। वह पुरुषश्रेष्ठ ही करते हैं। निकृष्ट पुरुष धन के बाबत पूछता है।

मेरे पास लोग आ जाते हैं। अब मेरे पास आने के पहले ही उन्हें सोचना चाहिए कि मेरे पास किसलिए जा रहे हैं! वे पूछते हैं कि ध्यान करने से आर्थिक लाभ होगा कि नहीं?

नुकसान हो सकता है, लाभ कैसे होगा! ध्यान करोगे, तो घंटेभर तो दुकानदारी बंद हो जाएगी। उतना नुकसान होगा। ध्यान करोगे, तो लोगों की जेब से पैसा निकालने में थोड़ी—सी झिझक होने लगेगी। उतना नुकसान होगा। ध्यान करोगे, तो शोषण जरा मुश्किल मालूम होगा। उतना नुकसान होगा। ध्यान करोगे, तो झूठ बोलने में अड़चन आएगी। उतना नुकसान हो तो मैं उनसे कहता हुं, ध्यान की तरफ जाना ही मत। ध्यान से हानि है। वे कहते हैं कि नहीं, आप मजाक कर रहे होंगे। क्योंकि हमने तो यही सुना है कि ध्यान करने से सभी तरह का लाभ होता है। लौकिक, पारलौकिक सभी तरह का लाभ है।

लाभ पर नजर है, परलोक से मतलब क्या है! ध्यान से धन पाने की आकांक्षा उठती हो, तो बड़ा निकृष्ट चित्त है।

पुरुष जब श्रेष्ठ चित्त से भरता है, तो उसकी जिज्ञासा मोक्ष की होती है। वह कहता है, मुक्त कैसे हो जाऊं? देख लिखा संसार, जान लिया संसार, दुख के अतिरिक्त कुछ भी न पाया, पीड़ा के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। काटे ही काटे थे। फूल सिर्फ आश्वासन थे; आते कभी न थे, दूर दिखाई पड़ते थे; पास पहुंचने से सब काटे ही सिद्ध होते थे।

संसार से, संसार की पीड़ा से जो ऊब गया, जाग रहा है, वही पूछता है, मुक्त कैसे हो जाऊं? वही पूछता है, संन्यास क्या है? त्याग क्या है? हे कृष्ण, मुझे साफ—साफ करके बता दें।

हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग सात्विक, राजस और तामस, ऐसे तीन प्रकार का कहा गया है।

कृष्ण सांख्य के गणित को पूरा का पूरा स्वीकार करते हैं। और हर चीज तीन प्रकार की है, तो त्याग भी तीन प्रकार का होगा, संन्यास भी तीन प्रकार का होगा।

एक तो वह आदमी है, जो त्याग करेगा, लेकिन उसके कारण तामसिक होंगे। अनेक लोग सिर्फ आलस्य के वश त्यागी हो जाते हैं। क्योंकि उन्हें लगता है कि त्यागी हो गए, फिर समाज खिलाता—पिलाता है, फिक्र लेता है, फिर खुद कुछ करना नहीं पड़ता। जिनको कुछ नहीं करना है, जिनका प्रमाद गहरा है, वे त्याग कर लेते हैं!

भारत में सौ संन्यासियों में से निन्यानबे तामसी मिलेंगे। बड़ी संख्या है उनकी। कोई पचपन लाख संन्यासी हैं भारत में। अब अगर पचपन लाख संन्यासी सात्विक हों, तो इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आए। तामसी हैं, छोड़ने में रस नहीं है,

पकड़ने की चेष्टा करने की इच्छा न थी। उतनी भी इच्छा न थी कि कुछ करें। निष्क्रिय हैं, अकर्मण्य हैं। मुफ्त खाने मिल जाए, पीने मिल जाए, तो बस यही उनके जीवन का परम लक्ष्य है। इस तरह का तमस त्याग कहां ले जाएगा!

फिर कुछ लोगों का त्याग राजस है। राजस का अर्थ है, जो उन्होंने जबरदस्ती किया है। एक तरह की हिंसा है उसमें, ऊर्जा है। राजस व्यक्ति या तो दूसरे को दबाए या अपने को दबाए दबाएगा जरूर। उसका सारे जीवन का ढंग हिंसा का है। अगर वह दूसरों को न दबा सके, तो अपने को दबाएगा। अगर वह दूसरों पर मालकियत सिद्ध न कर सके, तो अपने पर मालकियत सिद्ध करेगा।

तो राजस व्यक्ति भी त्याग कर सकता है, लेकिन उसके त्याग में हिंसा होगी। वह अपने को सताएगा। वह अपने पर मालकियत करने की कोशिश करेगा। वह अपने शरीर के साथ ऐसा व्यवहार करेगा, जैसे शरीर कोई दूसरा है। वह खड़ा रहेगा, जब शरीर को बैठना था। वह भूखा रहेगा, जब शरीर को भूख. लगी थी। जब प्यास लगी थी, तब वह प्यासा रहेगा। वह कीटों पर लेटेगा। वह सब तरह से शरीर को सताएगा। वह मजा वही ले रहा है, जो वह दूसरे को सताने में लेता। यह त्याग भी कहां ले जाएगा! यह त्याग भी हिंसा है।

फिर एक सात्विक त्याग है, संतुलन का, सत्व का, समता का, बोध का, सम्यकत्व का, कि तुम्हारी समझ बढ़ी, तुमने जीवन को जाना—पहचाना। न तो तुम अकर्मण्यता के कारण छोड्कर भागते हो; न तुम भागने में मजा है, क्योंकि भागने में दौड़ है, इसलिए भागते हो। तुम्हारा संन्यास तुम्हारे बोध की एक परिपक्व दशा है। तुम्हारी समझ का ही परिणाम है।

तुमने देखा कि संसार में कुछ पकड़ने जैसा नहीं है, क्योंकि सभी छूट जाएगा। जो छूट ही जाना है, उसे पकड़ना क्या? जो छूट ही जाना है, वह छूट ही गया है। तुमने दौड़कर भी देख लिया और पाया कि कोई मंजिल नहीं आती; यह संसार कोल्ह के बैल की तरह है, दाड़ी बहुत, पहुंचना नहीं होता। तुमने दौड़ भी छोड़ दी।

अब तुम एक सम्यकत्व में थिर हो गए हो। तुम्हारे जीवन में एक अनअतिशय का भाव पैदा हुआ है। न तो तुम इस तरफ डोलते हो, न तुम उस तरफ डोलते हो, तुम मध्य में ठहर गए हो। घड़ी का पेंडुलम जैसे बीच में रुक गया है। न बाएं जाता, न दाएं जाता। क्योंकि कहीं जाने में कोई सार नहीं है। होने में सार है, जाने में सार नहीं है। दौड़ने में सार नहीं है, रुकने में सार है। कहीं पहुंचना नहीं है; जहां हो, वहीं पूरी तरह हो जाना है। स्वयं में थिर होना है। ऐसा जो संन्यास है, वह सात्विक है।

हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग, वह संन्यास तीन प्रकार का कहा गया है। तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं। वे निःसंदेह ही करने चाहिए, उनका करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप, ये तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। इसलिए हे पार्थ, यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति और फलों को त्यागकर अवश्य करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।

कृष्ण कहते हैं, यज्ञ, दान और तप, इन्हें भी छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। कृष्ण एक संतुलन बिठा रहे हैं लोक में और परलोक में। कृष्ण इस संसार के विरोध में नहीं हैं और उस संसार के पक्ष में हैं।

यह थोड़ी नाजुक बात है। क्योंकि साधारणत: जो लोग परलोक के पक्ष में हैं, वे इस लोक के विपक्ष में होते हैं। जो लोग इस लोक के पक्ष में हैं, वे परलोक के विपक्ष में होते हैं। जो भौतिकवादी हैं, वे अध्यात्मवादी नहीं होते। जो अध्यात्मवादी हैं, वे भौतिकवादी नहीं होते।

कृष्ण भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दोनों हैं। पदार्थ और परमात्मा में किसी का तिरस्कार नहीं करना है। संसार में और मोक्ष में भी एक संतुलन साध लेना है। यह गहरे से गहरे संतुलन की बात है।

कृष्ण कहते हैं, इसलिए संसार में जो कर्तव्य है, उसे छोड्कर भाग जाना उचित नहीं। भागकर भी जाओगे कहां? संसार ही पाओगे, जहां भी भागकर जाओगे। कर्म को छोड़ोगे भी कैसे गु: छोड़ना भी कर्म है। पलायन करोगे, वह भी कर्म होगा; आख बंद करके बैठोगे, वह भी कर्म होगा। बैठना भी कर्म है।

तो कर्म से तो भाग नहीं सकते। जब तक जी रहे हो, श्वास चलती है, कर्म चलता ही रहेगा। तब फिर ध्यान रखो कि जो कर्म हो, वह यज्ञरूप हो, वह दूसरे के हित के लिए हो। तुम्हारी श्वास भी चले, तो दूसरे के हित के लिए चले, वह स्वार्थ के लिए न चले। दानरूप हो। दूसरे को देने के लिए तुम्हारी चेष्टा हो, छीनने की चेष्टा न हो। तपरूप हो। तुम जो करो, वह स्वयं को निखारने और शुद्ध करने के लिए हो, अशुद्ध करने के लिए न हो।

तो कहीं कुछ भागने की जरूरत नहीं है। करने का इतना ही है कि हे पार्थ, यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म आसक्ति को छोड्कर और फल की आकांक्षा को छोड्कर किए जाएं।

तुम किसी की सेवा करो, तो धन्यवाद भी मत मांगना। अन्यथा सेवा व्यर्थ हो गई। तुम तपश्चर्या करो, तो परमात्मा की तरफ शिकायत से मत देखते रहना कि मैं इतनी तपश्चर्या कर रहा हुं, अभी तक कुछ हुआ नहीं! तपश्चर्या को तुम आनंद मानकर करना। तुम अगर दान दो, तो तुम देने में सुख लेना। देने के पार और देने के बाद तुम्हारी कोई आकांक्षा न हो।

इसीलिए तो गुप्तदान को श्रेष्ठतम दान कहा गया है, कि जिसको दिया है, उसे धन्यवाद देने का भी मौका न मिले, उसे पता ही न चले कि किसने दिया है। और देने वाले को इतनी भी आकांक्षा न हो कि जब राह पर, जिसे उसने दिया है, वह मिले, तो नमस्कार करे, कि अखबार में खबर छपे, कि रेडियो पर घोषणा हो।

आकांक्षा फल की बताती है कि तुम्हारे जीवन में साधन और साध्य अलग—अलग हैं; साधन अभी और साध्य भविष्य में। और योग का सार सूत्र यही है कि साधन ही साध्य हो जाए। यह वर्तमान क्षण ही तुम्हारा सारा भविष्य हो जाए। आज ही सब समा जाए; इस कृत्य में ही सारा समाविष्ट हो जाए, इसके पार कोई आकांक्षा न हो। जिस दिन साधन ही साध्य हो जाता है और जिस दिन कदम ही मंजिल हो जाती है, जिस दिन तुम जहां बैठे हो, वहीं होना मोक्ष हो जाता है, उसी दिन पा लिया।

कृष्ण की पूरी प्रक्रिया कर्मत्याग की नहीं, फलाकांक्षा के त्याग की है। और फलाकांक्षा का त्याग वही कर सकता है, जिसने बड़ी सात्विक प्रौढ़ता को पाया हो।

फलाकांक्षी का त्याग तामसी नहीं कर सकता। क्योंकि तामसी तो कर्म का त्याग कर सकता है, फल का त्याग नहीं कर सकता। तामसी की आकांक्षा क्या है? वह कहता है, फल तो सब मिलने चाहिए, कर्म कुछ भी न करना पड़े। यह तामसी की आकांक्षा है। वह कहता है, बैठे—बैठे मिल जाए, तो हम राजी हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने सिगरेट त्याग दी थी। फिर मैंने एक दिन उसे सिगरेट पीते देखा, तो पूछा, क्या हुआ नसरुद्दीन? उसने कहा, मैंने खरीदना त्यागा है। लेकिन कोई अगर पिला दे, तो क्या हर्ज है? प्रमादी कर्म नहीं करना चाहता। इसे तुम ठीक से समझ लो। प्रमादी कर्म नहीं करना चाहता, फल चाहता है। सत्व को उपलब्ध व्यक्ति कर्म करता है, फल नहीं चाहता। एक छोर है प्रमाद, निम्नतम। दूसरा छोर है श्रेष्ठतम, सत्व। और मध्य में जो राजसी है, उसकी दशा बड़ी अलग है। उसे कर्म करने में ही मजा आता है, किया में ही मजा आता है। उसमें इतनी ऊर्जा है, इतनी शक्ति है कि वह दौड़— धूप करने में रस लेता है। अगर उसे दौड़— धूप करने को न मिले, तो परेशानी होती है।

जैसे तामसी उठ नहीं सकता, वैसे राजसी बैठ नहीं सकता। जैसे तामसी को सुबह बिस्तर से उठने में भारी अड़चन आती है, संसार का सारा कष्ट आता है, वैसे राजसी को रात बिस्तर पर जाने में भारी कष्ट आता है। राजसी की रात लंबी होती जाती है, वह जागता है दो बजे, तीन बजे तक। कुछ नहीं तो नाचता है, होटल में, क्लब में, कहीं भी समय बिताता है। ताश खेलता है, कुछ करना है! उसके भीतर इतनी बेचैनी है कि उस बेचैनी को न निकाले, तो वह सम्हाल न सकेगा।

तामसी पड़ा रहता है, उसे उठने में अड़चन है।

ऐसा हुआ जापान में कि जापान में एक सम्राट हुआ। वह झक्की था, आलसी था। उसे एक खयाल आया कि आलसियों में कभी ही कोई सम्राट हो पाता है, अब मैं हो गया हूं तो और आलसियो के लिए भी इंतजाम कर दूं। तो उसने राज्य

में खबर भिजवाई कि जितने भी आलसी हों, वे सभी दरख्वास्त दे दें। उन्हें कुछ करने की जरूरत नहीं रहेगी। क्योंकि अगर तुम आलसी हो, इसमें तुम्हारा कसूर क्या! भगवान ने तुम्हें आलसी बनाया, उसका मतलब भगवान चाहता है, तुम आलसी रहो। जिन्हें उसने काम करने वाला बनाया, वे काम करें, अपने लिए भी, तुम्हारे लिए भी। मगर आलसी का कसूर क्या है? कोई अंधा है, कोई लंगड़ा है, कोई आलसी है, तो इसमें करोगे क्या!

हजारों लोगों की दरख्वास्तें आईं। मंत्री तो घबड़ा गए कि अगर इतने लोग खाली बैठ जाएंगे, तो डूब जाएगी नाव राज्य की। सम्राट से उन्होंने प्रार्थना की कि ये तो बहुत ज्यादा लोग आलसी होने के लिए दरख्वास्त दिए हैं, यह तो खजाना डूब जाएगा। यह चल न सकेगा मामला! सम्राट ने कहा, चलेगा, तुम उन सबको कह दो कि वे सब आ जाएं। जांच कर ली जाएगी। असली आलसी तो एक ऐसी अनूठी घटना है कि वह छिपाए छिप नहीं सकता।

बुला लिए गए आलसी, उनकी परीक्षा के लिए। परीक्षा यह थी कि उन्हें घास के झोपड़ों में ठहरा दिया गया और रात आग लगा दी गई। भागे लोग निकलकर। जो भी नकली थे, भाग गए। चार लेकिन पड़े रहे। पड़े थे, उन्होंने और अपना कंबल ओढ़ लिया। किसी ने कहा भी कि आग लगी है। उन्होंने कहा, ऐसी बातें न करो आधी रात; नींद खराब न करो। अब जिसने लगाई है, वही बुझाका भी। निश्चित, बुझाई भी गई आग। चार बचे; हजारों आए थे!

आलसी की जीवन—ऊर्जा उठती नहीं। वह मरा—मरा है, जैसे मरने के पहले मरा हुआ है। वह लाश की तरह है, उसकी जीवन—ऊर्जा बैठी हुई है, सक्रिय नहीं है।

राजसी उन्मत्त है ऊर्जा से। जरूरत से ज्यादा शक्ति है। भागेगा, दौड़ेगा, जमानेभर की राजनीति करेगा, उपद्रव खड़े करेगा, वह उसके बिना जी नहीं सकता।

अभी मैं एक लिस्ट देख रहा था, गुजरात में जो मंत्रिमंडल बना है, तो एक नाम मुझे बड़ा प्यारा लगा। नाम है, भाईदास भाई गड़बडिया काट्रैक्टर। यह तो सभी मंत्रियों का नाम यही होना चाहिए। पहले तो भाईदास भाई भी कोई नाम हुआ! न तो भाई नाम है, न दास नाम है, भाईदास भाई! फिर गड़बडिया। और उसमें भी जो कमी रह गई, वह काट्रैक्टर!

राजसी का एक जगत है, उसका एक पागलपन है। वह दौड़ेगा, दौड़ेगा। उसे कहीं पहुंचना नहीं है, पहुंचने से कोई लेना—देना भी नहीं है। ऊर्जा है, बेचैनी है।

फिर सत्व को उपलब्ध व्यक्ति है, वह संतुलित है। वह उतना ही करता है, जितना करना जरूरी है। वह श्रम और विश्राम के बीच खड़ा है। वह सदा श्रम और विश्राम के बीच संतुलन को साधता है। उसका जीवन सम्यकत्व की धारा है। समत्व, अनतिशय, निरति, उसके सूत्र हैं। वैसा व्यक्ति ही आकांक्षा को छोड़ सकता है, फल की आसक्ति को। वैसा व्यक्ति ही अपने अहंकार को छोड़ देता है। क्योंकि जब तुम फल की आकांक्षा नहीं करते, तुम्हारा अहंकारगिर जाता है।

बिना भविष्य के अहंकार जीएगा कैसे? भविष्य का सहारा चाहिए। वर्तमान में तो अहंकार होता ही नहीं। इस क्षण बोलो, कहां है तुप्तारा अहंकार? इस क्षण! इस क्षण तो भीतर सन्नाटा है। तुम खोजो भी, कहां हूं मैं? कहीं पाओगे न। कल है, बड़ा मकान बनाना है, बड़ी कार खरीदनी है; कल है अहंकार। चुनाव जीतना है। राष्ट्रपति होना है। कल है अहंकार। अभी इसी क्षण खोजोगे, पाओगे नहीं।

जितना भविष्य बड़ा बनाओगे, उतना बड़ा अहंकार है। या अतीत में है अहंकार। जो तुमने किया या जो तुम करोगे, उन दोनों में अहंकार है। लेकिन जो तुम हो, वहां कोई अहंकार नहीं है। तुम्हारा होना निरअंहकारपूर्ण है।

अस्तित्व की कोई अस्मिता नहीं है। अस्तित्व तो बस, है। बस, होना ही है।

इसलिए कृष्ण बार—बार सभी द्वारों से अर्जुन को समझाते हुए एक बात पर लौट आते हैं; वह उनके गीत की टेक है। वे बार—बार वह कडी पर लौट आते हैं, तू फलाकांक्षा छोड़ दे, और परमात्मा जो कराए तू कर। न तो तू अपनी तरफ

से करने वाला हो, न अपनी तरफ से न करने वाला हो। न तो तामस, न राजस, परमात्मा जो कराए, तू कर। तू निमित्त मात्र हो जा

प्रवचन 14. फलाकांक्षा का त्याग

सूत्र—
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोययद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामम: यरिकीर्तितः ।।7।।
दुः खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशमयाल्यजेत्।
स कृत्या राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।8।।
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेअर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सास्थ्याए मतः ।।9।।
और हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना योग्य नही है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है।

और यदि कोई मनुष्य, जो कुछ कर्म है वह सब ही दुखरूप है, ऐसा समझकर शाशीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर दे, तो वह पुरूष उस राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है।

और हे अर्जुन, करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर ही जो शास्त्र— विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्याग कर किया जाता है, वह ही सात्विक कहा जाते है।

पहले कुछ प्रश्न।
पहला प्रश्न : आषाढ़ पूर्णिमा को गुरू—पूर्णिमा के रूप में मनाने का क्या राज है?
कर्म जीवन को देखने का काव्यात्मक ढंग है।

एक तो राह है जीवन को देखने की गणित की, और एक राह है जीवन को देखने की काव्य की। गणित की यात्रा विज्ञान पर पहुंचा देती है। और अगर काव्य की यात्रा पर कोई चलता ही चला जाए, तो परम काव्य परमात्मा पर पहुंच जाता है। लेकिन काव्य की भाषा को समझना थोड़ा दुरूह है, क्योंकि तुम्हारे जीवन की सारी भाषा गणित की भाषा है। तो गणित की भाषा से तो तुम परिचित हो, काव्य की भाषा से परिचित नहीं हो।

दो भूलों की संभावना है। पहली तो भूल यह है कि तुम काव्य की भाषा को केवल कविता समझ लो, एक कल्पना मात्र! तब तुमने पहली भूल की। और दूसरी भूल यह है कि तुम कविता की भाषा को गणित की तरह सच समझ लो, तथ्य समझ लो, तब भी भूल हो गई। दोनों से जो बच सके, वह समझ पाएगा कि आषाढ़ पूर्णिमा का गुरु—पूर्णिमा होने का क्या कारण है।

काव्य की भाषा तथ्यों के संबंध में नहीं है, रहस्यों के संबंध में है। जब कोई प्रेमी कहता है अपनी प्रेयसी से कि तेरा चेहरा चांद जैसा, तो कोई ऐसा अर्थ नहीं है कि चेहरा चांद जैसा है। फिर भी वक्तव्य व्यर्थ भी नहीं है। चांद जैसा तो चेहरा हो कैसे सकता है?

आइंस्टीन का बड़ा प्रसिद्ध मजाक है। उसने जिस युवती से विवाह किया था, वह थोड़ी कविता करती थी, फ्रा आइंस्टीन। आइंस्टीन ने उससे कहा, मैं समझ ही नहीं पाता। क्योंकि आइंस्टीन तो गणित, साकार गणित, गणित का अवतार। शायद पृथ्वी पर वैसा कोई गणितज्ञ कभी हुआ ही नहीं, और होगा भी, यह भी संदिग्ध है। तो उसने कहा, यह

मैं समझ ही नहीं पाता। ये कविताएं बिलकुल बेबूझ मालूम पड़ती हैं। लोग कहते हैं, प्रेयसी का चेहरा चांद जैसा! चांद न तो सुंदर है.।

चांद पर जाकर चांद—यात्रियों को पता चल गया कि आइंस्टीन सही है, सब कवि गलत हैं। खाई—खड्ड हैं; न कोई हरियाली है, न कोई लहलहाती झीलें हैं, न फूल खिलते हैं, न पक्षी गीत गाते हैं; मरुस्थल है। और इतना मुरदा मरुस्थल है कि जहां कोई, कुछ भी जीवित नहीं है। सौंदर्य की बात इस मरघट से क्या हो सकती है? और स्त्री के चेहरे को चांद का चेहरा कहना! आइंस्टीन ने कहा, अनुपात भी नहीं बैठता, कितना बडा चांद, कितना छोटा—सा चेहरा! बात ठीक ही है। अगर काव्य की भाषा को तुमने तथ्य की भाषा समझा, तो यही स्थिति बनेगी।

फिर दूसरी तरफ ऐसे लोग हैं, जिन्होंने काव्य की भाषा को तथ्य की भाषा सिद्ध करने की चेष्टा की है। जैसे जीसस को कहा है ईसाइयों ने कि वे कुंआरी मां से पैदा हुए।

यह काव्य है। कुंआरी मां से कोई कभी पैदा नहीं होता। यह तथ्य नहीं है, यह इतिहास नहीं है, पर फिर भी बड़ा अर्थपूर्ण है, इतिहास से भी ज्यादा अर्थपूर्ण है। यह बात अगर इतिहास से भी घटती, तो दो कौड़ी की होती। इसमें जानने वालों ने कुछ कहने की कोशिश की है, जो साधारण भाषा में समाता नहीं।

उन्होंने यह कहा है कि जीसस जैसा व्यक्ति सिर्फ कुंआरी मां से ही पैदा हो सकता है। जीसस जैसी पवित्रता, कल्पना भी हम नहीं कर सकते कि कुंआरेपन के अतिरिक्त और कहा से पैदा होगी!

तो जिन्होंने कहा है कि जीसस कुंआरी मां से पैदा हुए, उन्होंने जरूर बडी गहरी बात कही है, बड़ी अर्थपूर्ण, लेकिन भाषा तथ्य की नहीं है, भाषा काव्य की है। वे यह कह रहे हैं कि जीसस को देखकर हमें इस असंभव पर भी भरोसा आता है कि वे कुंआरी मां से ही पैदा हुए होंगे।

इसे न तो सिद्ध करने की कोई जरूरत है, न असिद्ध करने की कोई जरूरत है। दोनों ही नासमझियां हैं। इसे समझने की जरूरत है। काव्य एक सहानुभूति चाहता है।

महावीर को प्रेम करने वाले लोग कहते हैं कि उनके शरीर से पसीना नहीं बहता था, दुर्गंध नहीं आती थी, वे मल—मूत्र विसर्जन नहीं करते थे।

बिलकुल झूठी बात है। तथ्य की तो बात हो ही नहीं सकती, अन्यथा महावीर जी ही न सकते थे। तब तो महाकब्जियत की अवस्था होती, जैसी कि कभी किसी को न हुई हो। मल—मूत्र का विसर्जन ही न करें, उनकी तुम तकलीफ समझ सकते हो। आनंद तो दूर, नरक पैदा हो जाता।

नहीं; मल—मूत्र तो विसर्जन किया ही होगा। लेकिन इतने पवित्र पुरुष में मल पैदा हो सकता है, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। पसीना तो बहा ही होगा। सूरज किसी को माफ नहीं करता और सूरज के नियम किसी के लिए बदलते नहीं। धूप पड़ी होगी, तो इस फकीर महावीर से पसीना बहा ही होगा। तुमसे ज्यादा बहा होगा, क्योंकि न कोई छप्पर, न कोई मकान रहने को, नग्न, प्रगाढ़ धूप हो कि वर्षा हो, आकाश के नीचे! इसलिए तो महावीर का नाम ही दिगंबर हो गया, आकाश ही जिनका एकमात्र वस्त्र है। खूब पसीना बहा होगा।

लेकिन कहने वाले जो कह रहे हैं, वह बिलकुल ही ठीक कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि इस पवित्रता से पसीने की बदबू पैदा हो सकती है, यह हम कैसे मानें! वे यह कह रहे हैं कि जरूर हमसे कहीं भूल हुई होगी, अगर हमने महावीर के शरीर से कोई दुर्गंध उठती देखी; तो वह हमारी ही नासापुटों की भूल रही होगी, वह महावीर से नहीं हो सकती।

ये सब काव्य हैं। इनको काव्य की तरह समझो, तब इनका माधुर्य अनूठा है; तब इसमें तुम डुबकियां लगाओ और बड़े हीरे तुम ले आओगे, बड़े मोती चुन लोगे।

लेकिन किनारे पर दो तरह के लोग बैठे हैं, वे डुबकी लगाते ही नहीं। एक सिद्ध करता रहता है कि यह बात तथ्य नहीं है, झूठ है। वह भी नासमझ है। दूसरा सिद्ध करता रहता है कि यह तथ्य है, झूठ नहीं है। वह भी नासमझ है। क्योंकि वे दोनों ही एक ही मुद्दे पर खड़े हैं। दोनों ही यह मान रहे हैं, उन दोनों की भूल एक ही है कि काव्य की भाषा तथ्य की भाषा है। दोनों की भूल एक है। वे विपरीत मालूम पड़ते हैं, विपरीत हैं नहीं।

सारा धर्म एक महाकाव्य है। अगर यह तुम्हें खयाल में आए, तो आषाढ़ की पूर्णमा बड़ी अर्थपूर्ण हो जाएगी। अन्यथा, एक तो आषाढ़, पूर्णिमा दिखाई भी न पड़ेगी। बादल घिरे होंगे, आकाश तो खुला न होगा, चांद की रोशनी पूरी तो पहुंचेगी नहीं। और प्यारी पूर्णिमाएं हैं, शरद पूर्णिमा है, उसको क्यों न चुन लिया? ज्यादा ठीक होता, ज्यादा मौजूं मालूम पड़ता।

नहीं; लेकिन चुनने वालों का कोई खयाल है, कोई इशारा है। वह यह है कि गुरु तो है पूर्णिमा जैसा और शिष्य है आषाढ़ जैसा। शरद पूर्णिमा का चांद तो सुंदर होता है, क्योंकि आकाश खाली है। वहा शिष्य है ही नहीं, गुरु अकेला है। आषाढ़ में सुंदर हो, तभी कुछ बात है, जहां गुरु बादलों जैसा घिरा हो शिष्यों से।

शिष्य सब तरह के जन्मों—जन्मों के अंधेरे का लेकर आ गए। वे अंधेरे बादल हैं, आषाढ़ का मौसम हैं। उसमें भी गुरु चांद की तरह चमक सके, उस अंधेरे से घिरे वातावरण में भी रोशनी पैदा कर सके, तो ही गुरु है। इसलिए आषाढ़ की पूर्णिमा! वह गुरु की तरफ भी इशारा है उसमें और शिष्य की तरफ भी इशारा है। और स्वभावत: दोनों का मिलन जहां हो, वहीं कोई सार्थकता है।

ध्यान रखना, अगर तुम्हें यह समझ में आ जाए काव्य—प्रतीक, तो तुम आषाढ़ की तरह हो, अंधेरे बादल हो। न मालूम कितनी कामनाओं और वासनाओं का जल तुममें भरा है, और न मालूम कितने जन्मों—जन्मों के संस्कार लेकर तुम चल रहे हो, तुम बोझिल हो। तुम्हें तोड़ना है, तुम्हें चीरना है। तुम्हारे अंधेरे से घिरे हृदय में रोशनी पहुंचानी है। इसलिए पूर्णिमा!

चांद जब पूरा हो जाता है, तब उसकी एक शीतलता है। चांद को ही हमने गुरु के लिए चुना है। सूरज को चुन सकते थे, ज्यादा मौजूं होता, तथ्यगत होता। क्योंकि चांद के पास अपनी रोशनी नहीं है। इसे थोडा समझना।

चांद की सब रोशनी उधार है। सूरज के पास अपनी रोशनी है। चांद पर तो सूरज की रोशनी का प्रतिफलन होता है। जैसे कि तुम दीए को आईने के पास रख दो, तो आईने में से भी रोशनी आने लगती है। वह दीए की रोशनी का प्रतिफलन है, वापस लौटती रोशनी है। चांद तो केवल दर्पण का काम करता है, रोशनी सूरज की है।

हमने गुरू को सूरज ही कहा होता, तो बात ज्यादा तथ्यपूर्ण होती। मिश्रित कर दे। चांद शून्य है; उसके पास कोई रोशनी नहीं है, लेता और सूरज के पास प्रकाश भी महान है, विराट है। चांद के पास कोई बहुत बड़ा प्रकाश थोड़े ही है, बड़ा सीमित है; इस पृथ्वी तक आता है, और कहीं तो जाता नहीं।

पर हमने सोचा है बहुत, सदियों तक, और तब हमने चांद को चुना है दो कारणों से। एक, गुरु के पास भी रोशनी अपनी नहीं है, परमात्मा की है। वह केवल प्रतिफलन है। वह जो दे रहा है, अपना नहीं है; वह केवल निमित्तमात्र है, वह केवल दर्पण है।

तुम परमात्मा की तरफ सीधा नहीं देख पाते, सूरज की तरफ सीधा देखना बहुत मुश्किल है। देखो, तो अड़चन समझ में आ जाएगी। प्रकाश की जगह आंखें अंधकार से भर जाएंगी। परमात्मा की तरफ सीधा देखना असंभव है, आंखें फूट जाएंगी, अंधे हो जाओगे। रोशनी ज्यादा है, बहुत ज्यादा है, तुम सम्हाल न पाओगे, असह्य हो जाएगी। तुम उसमें टूट जाओगे, खंडित हो जाओगे, विकसित न हो पाओगे।

इसलिए हमने सूरज की बात छोड़ दी। वह थोड़ा ज्यादा है; शिष्य की सामर्थ्य के बिलकुल बाहर है। इसलिए हमने बीच में गुरु को लिया है।

गुरु एक दर्पण है, पकड़ता है सूरज की रोशनी और तुम्हें दे देता है। लेकिन इस देने में रोशनी मधुर हो जाती है। इस देने में रोशनी की त्वरा और तीव्रता समाप्त हो जाती है। दर्पण को पार करने में रोशनी का गुणधर्म बदल जाता है। सूरज इतना प्रखर है, चांद इतना मधुर है!

इसलिए तो कबीर ने कहा है, गुरु गोविंद दोई खड़े, काके लागू पाय। किसके छुऊं पैर? वह घड़ी आ गई, जब दोनों सामने खड़े हैं। फिर कबीर ने गुरु के ही पैर छुए, क्योंकि बलिहारी गुरु आपकी, जो गोविंद दियो बताय।

सीधे तो देखना संभव न होता। गुरु दर्पण बन गया। जो असंभवप्राय था, उसे गुरु ने संभव किया है, जो दूर आकाश की रोशनी थी, उसे जमीन पर उतारा है। गुरु माध्यम है। इसलिए हमने चांद को चुना।

गुरु के पास अपना कुछ भी नहीं है। कबीर कहते हैं, मेरा मुझमें कुछ नहीं। गुरु है ही वही जो शून्यवत हो गया है। अगर उसके पास कुछ है, तो वह परमात्मा का जो प्रतिफलन होगा, वह भी विकृत हो जाएगा, वह शुद्ध न होगा।

चांद के पास अपनी रोशनी ही नहीं है जिसको वह मिला दे, है सूरज से, देता है तुम्हें। वह सिर्फ मध्य में है, माधुर्य को जन्मा देता है।

सूरज कहना ज्यादा तथ्यगत होता, लेकिन ज्यादा सार्थक न होता। इसलिए हमने चांद कहा है।

फिर सूरज सदा सूरज है, घटता—बढ़ता नहीं। गुरु भी कल शिष्य था। सदा ऐसा ही नहीं था। बुद्ध से बुद्ध पुरुष भी कभी उतने ही तमस, अंधकार से भरे थे, जितने तुम भरे हो। सूरज तो सदा एक—सा है।

इसलिए वह प्रतीक जमता नहीं। गुरु भी कभी खोजता था, भटकता था, वैसे ही, उन्हीं रास्तों पर, जहां तुम भटकते हो, जहां तुम खोजते हो। वही भूलें गुरु ने की हैं, जो तुमने की हैं। तभी तो वह तुम्हें सहारा दे पाता है। जिसने भूलें ही न की हों, वह किसी को सहारा नहीं दे सकता। वह भूल को समझ ही नहीं सकता। जो उन्हीं रास्तों से गुजरा हो; उन्हीं अंधकारपूर्ण मार्गों में भटका हो, जहां तुम भटकते हो, उन्हीं गलत द्वारों पर जिसने दस्तक दी हो, जहां तुम देते हो; मधुशालाओं से और वेश्यागृहों से जो गुजरा हो; जिसने जीवन का सब विकृत और विकराल भी देखा हो, जिसने जीवन में शैतान से भी संबंध जोड़े हों—वही तुम्हारे भीतर की असली अवस्था को समझ सकेगा।

नहीं, सूरज तुम्हें न समझ सकेगा, चांद समझ सकेगा। चांद अंधेरे से गुजरा है; पंद्रह दिन, आधा जीवन तो अंधेरे में ही डूबा रहता है। अमावस भी जानी है चांद ने, सदा पूर्णिमा ही नहीं रही है। भयंकर अंधकार भी जाना है, शैतान से भी परिचित हुआ है, सदा से ही परमात्मा को नहीं जाना है। यात्री है चांद। सूरज तो यात्री नहीं है, सूरज तो वैसा का वैसा है। अपूर्णता से पूर्णता की तरफ आया है गुरु चांद की तरह—एकम आई, दूज आई, तीज आई—धीरे— धीरे बढ़ा है एक—एक कदम। और वह घड़ी आई, जब वह पूर्ण हो गया है।

गुरु तुम्हारे ही मार्ग पर है; तुमसे आगे, पर मार्ग वही है। इसलिए तुम्हारी सहायता कर सकता है। परमात्मा तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता।

यह तुम्हें थोड़ा कठिन लगेगा सुनना। परमात्मा तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि वह उस यात्रा में कभी भटका नहीं है, जहां तुम भटक रहे हो। वह तुम्हें समझ ही न पाएगा। वह तुमसे बहुत दूर है। उसका फासला अनंत है। तुम्हारे और उसके बीच कोई भी सेतु नहीं बन सकते।

गुरु और तुम्हारे बीच सेतु बन सकते हैं। कितना ही अंतर पड़ गया हो पूर्णिमा के चांद में—कहां अमावस की रात, कहां पूर्णिमा की रात—कितना ही अंतर पड़ गया हो, फिर भी एक सेतु है। अमावस की रात भी चांद की ही रात थी, अंधेरे में डूबे चांद की रात थी। चांद तब भी था, चांद अब भी है। रूपांतरण हुए हैं, क्रांतिया हुई हैं; लेकिन एक सिलसिला है।

तो गुरु तुम्हें समझ पाता है। और मैं तुमसे कहता हूं तुम उसी को गुरु जानना, जो तुम्हारी हर भूल को माफ कर सके। जो माफ न कर सके, समझना, उसने जीवन को ठीक से जीया ही नहीं। अभी वह पूर्ण तो हो गया होगा—जो मुझे संदिग्ध है। जो दूज का चांद ही नहीं बना, वह पूर्णिमा का चांद कैसे बनेगा? धोखा होगा।

इसलिए जो महागुरु हैं, परम गुरु हैं, वे तुम्हारी सारी भूलों को क्षमा करने को सदा तत्पर हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि स्वाभाविक है, मनुष्य—मात्र करेगा। उन्होंने स्वयं की हैं, इसलिए दूसरे को क्या दोष देना! क्या निंदा करनी! उनके मन में करुणा होगी।

तुम गुरु की पहचान इससे करना कि कितनी करुणा है। तुम जब क्रोधित हो जाओ और गुरु अगर तुम्हें नरक भेजने की धमकी देने लगे, तो समझना, करुणा नहीं है। तुम भटक जाओ, तुम मार्ग से उतर जाओ, तुम कामवासना से घिर जाओ, और गुरु तुम्हें माफ न कर सके, तो समझना कि गुरु पूर्णिमा का चांद नहीं है। उसने आवरण बना लिया होगा पूर्णिमा के चांद का। वह नकली चांद है, जैसा कि फिल्म के परदे पर दिखाई देता है। वह असली चांद नहीं है।

चांद तो सारी यात्रा से गुजरा है, सारे अनुभव हैं उसके। मनुष्य—मात्र के जीवन में जो हो सकता है, वह उसके जीवन में हुआ है। वही गुरु है, जिसने मनुष्यता को उसके अनंत—अनंत रूपों में जी लिया है—शुभ और अशुभ, बुरे और भले, असाधु और साधु के, सुंदर और कुरूप। जिसने नरक भी जाना है, जीवन का स्वर्ग भी जाना है; जिसने दुख भी पहचाने और सुख भी पहचाने, जो सबसे प्रौढ़ हुआ है। और सबकी संचित निधि के बाद जो पूर्ण हुआ है, चांद हुआ है।

इसलिए हम सूरज नहीं कहते गुरु को, चांद कहते हैं। चांद शीतल है। रोशनी तो उसमें है, लेकिन शीतल है। सूरज में रोशनी है, लेकिन जला दे। सूरज की रोशनी प्रखर है, छिदती है, तीर की तरह है। चांद की रोशनी फूल की वर्षा की तरह है, छूती भी नहीं और बरस जाती है।

गुरु चांद है, पूर्णिमा का चांद है। और तुम कितनी ही अंधेरी रात होओ और तुम कितने ही दूर होओ, कोई अंतर नहीं पड़ता, तुम उसी यात्रा—पथ पर हो, जहां गुरु कभी रहा है।

इसलिए बिना गुरु के परमात्मा को खोजना असंभव है। परमात्मा का सीधा साक्षात्कार तुम्हें जला देगा, राख कर देगा। सूरज की तरफ आंखें मत उठाना। पहले चांद से नाता बना लो। पहले चांद से राजी हो जाओ। फिर चांद ही तुम्हें सूरज की तरफ इशारा कर देगा। बलिहारी गुरु आपकी, जो गोविंद दियो बताय। इसलिए आषाढ़ पूर्णिमा गुरु—पूर्णिमा है। पर ये काव्य के प्रतीक हैं। इन्हें तुम किसी पुराण में मत खोजना। इनके लिए तुम किसी शास्त्र में प्रमाण मत खोजने चले जाना। यह तो जैसा मैंने देखा है, वैसा तुम से कह रहा हूं।

दूसरा प्रश्न : क्या हमारे रोज—रोज प्रश्न करने से किसी दिन संवाद घटित हो सकेगा? और क्या संवाद ही किसी दिन समझ बन जाएगा?
तुम्हारे रोज—रोज प्रश्न पूछने से संवाद नहीं घटेगा, रोज—रोज मैं तुमसे जो कह रहा हूं उसे सुनने से ?ई घटेगा। पूछने से नहीं। पूछे तो तुम जा सकते हो अनंत जन्मों तक, पूछते ही रहे हो; सुना नहीं है। और अक्सर ऐसा होता है कि मन जितना ज्यादा प्रश्नों से भरा होता है, उतना ही सुनने में असमर्थ हो जाता है। तुम्हारे मन में तुम्हारा प्रश्न ही गूंजता रहता है। सुनने के लिए अवकाश नहीं होता, जगह नहीं होती। तुम अपने प्रश्न से इतने भरपूर होते हो कि कहां प्रवेश करे? जो मैं तुमसे कह रहा हूं वह कहां जाए?

नहीं, पूछते तो तुम रहो जन्मों—जन्मों तक, उससे कुछ न होगा। पूछना तो एक रोग है; वह कोई स्वास्थ्य की दशा नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि मत पूछो; क्योंकि रोगी हो, तो पूछना ही पड़ेगा। नहीं पूछने से यह मत समझ लेना कि तुम रोगी न रहे। अस्पताल से भाग जाने से कोई स्वस्थ नहीं हो जाता; और न ही कोई स्वस्थ है इस कारण, क्योंकि वह किसी डाक्टर से कभी अपनी बीमारी के संबंध में नहीं पूछता।

नहीं, पूछना तो तुम्हें होगा। तुम रुग्ण हो। रोग में प्रश्न उठते हैं। तुम्हारी स्थिति करीब — करीब विक्षिप्त की है। मन में गूंजती ही रहती तै बात; जागते — सोते तुम्हारे रोग तुम्हारा पीछा करते रहते हैं। सपने भी तम वे ही देखते हो जो तुम्हारे रोग से पैदा होते हैं। दिन और रात, चौबीस घंटे, अहर्निश तुम्हारी रोग की धारा बहती रहती है।

पूछना तो पड़ेगा। पूछने से घबड़ाना मत। लेकिन पूछना अकेला काफी नहीं है। पूछकर चुप होना, ताकि सुन भी सको। पूछा इसीलिए था, ताकि सुन सको। पूछा इसीलिए था, ताकि राह बन सके संवाद के लिए। अगर तुम सुन सको, तो संवाद घटित होगा। मेरी तरफ से तो सदा घट रहा है, तुम्हारी तरफ से घटने की बात है।

मैं तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दिए जाता हूं सिर्फ इसी आशा में, कि तुम धीरे — धीरे सुनना सीख जाओगे। मगर इससे विपरीत भी हो सकता है। तुममें से कई असाध्य रोगी हैं। वे जितना पूछते हैं, उतनी ही उनकी पूछ बढ़ती चली जाती है। उनको एक प्रश्न का उत्तर दो, वे उस उत्तर में से दस प्रश्न लेकर दूसरे दिन हाजिर हो जाते हैं।

ऐसा लगता है, जैसे पूछना ही उनका व्यवसाय है; जैसे पूछने के लिए पूछ रहे हैं; जैसे नहीं पूछेंगे, तो कोई बड़ी हानि होगी! सुनने की चिंता नहीं मालूम पड़ती। क्योंकि अगर तुम मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर सुन लो, तो तुम्हारे सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाए। क्योंकि सुनने के क्षण में जो शांति तुम पर घटित होगी, वही उत्तर है।

मैं जो दे रहा हूं वह थोड़े ही उत्तर है; वह तो बहाना है तुम्हें चुप करने का, तुम्हें मौन हो जाने का। अगर तुम सुनने के लिए भी मौन हो गए; कि मैं क्या कह रहा हूं इसे सुनने के लिए तुम मौन हो गए; तो उस मौन में जो शांति घटित होगी, जो मधुर स्वर भीतर बजने लगेगा, जो वीणा छिड़ जाएगी, वही उत्तर है।

मैं उत्तर नहीं दे रहा हुं, उत्तर तो तुम्हारे भीतर छिपा है। मैं सिर्फ तुम्हें थोड़ा—सा चुप करना सिखा रहा हुं, ताकि तुम्हें अपना उत्तर सुनाई पड़ जाए।

प्रश्न तुम्हारा है, तो उत्तर मेरा कैसे हो सकता है? जिसका प्रश्न है उसको अपना उत्तर खोजना पड़ेगा। जहां से प्रश्न आया है, वहीं उत्तर खोजना पड़ेगा। जिस गहराई से प्रश्न उठा है, उसी गहराई में उत्तर खोजना पड़ेगा। जहां से दर्द उठा है, दवा वहीं खोजनी पड़ेगी। फिर मैं क्या कर रहा हूं? तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर दिए जाता हूं। वे उत्तर नहीं हैं, वे केवल उत्तरों के नाम पर तुम्हारे हाथों को दिए गए खिलौने हैं। तुम शायद उन खिलौनों में थोड़ी देर उलझ जाओ और चुप हो जाओ। शायद मुझे सुनते—सुनते ध्यान लग जाए।

वैसा घटता है। जो प्रथम कोटि के व्यक्ति हैं, जिनके लिए इशारे काफी होते हैं, उनको वैसे घट जाता है। वे सुनते—सुनते ही ध्यानमग्न हो जाते हैं। वे भूल ही जाते हैं कि मैं क्या कह रहा हूं। उन्हें तो दिखाई पड़ने लगता है कि मैं क्या हूं। वे भूल ही जाते हैं मेरे शब्दों को; शब्द के पीछे जो मौजूद है, उसकी उन्हें प्रतीति होने लगती है। मेरे पास, बात को सुनते—सुनते बात तो गौण हो जाती है, सत्संग शुरू हो जाता है। बात तो भूल ही जाती है। वह तो बहाना था। उसके बिना शायद तुम चुप न बैठ सकते, तुम्हें चुप बैठना कठिन होता।

तुम्हारे मन को थोड़े खिलौने दे रहा हूं ताकि मन वहा उलझ जाए और तुम्हारी चेतना शात हो जाए। जैसे छोटे बच्चों को हम करते हैं। ऊधम कर रहे हैं, शोरगुल मचा रहे हैं, उन्हें खिलौना दे दिया। थोड़ी देर को कोने में बैठकर वे खिलौने में लीन हो जाते हैं, घर को थोड़ी राहत मिलती है।

मैं जो कह रहा हुं, वे अगर उत्तर होते, तब तो तुम उन्हें कंठस्थ कर लेते, बात समाप्त हो जाती। लेकिन वे उत्तर नहीं हैं। उत्तर कभी किसी ने दिए ही नहीं हैं। बुद्ध पुरुष तो केवल तुम्हारे प्रश्न मिटाते हैं, उत्तर देते नहीं, तुम्हारे प्रश्नों को साफ करते हैं, ताकि मन खाली हो जाए।

प्रश्न तो तुम्हारे भीतर हैं; अब अगर तुम मेरे उत्तरों को भी सम्हालकर रख लिए, तो भीड़ और बढ़ जाएगी। वैसे ही काफी तुम परेशान थे, प्रश्नों से परेशान थे, अब तुम उत्तरों से परेशान हो जाओगे। परेशानी तुम्हारी जारी रहेगी।

नहीं, सुनो.....। और जब मैं कहता हूं सुनो, तो मेरा अर्थ है, परिपूर्णता से सुनो। तुम्हारे कान ही न सुनें, तुम्हारे शरीर का रोआं—रोआं सुने। तुम्हारा मन ही न समझे, तुम्हारा हृदय, तुम्हारी हड्डी—मांस—मज्जा भी समझे। तुम अपनी पूर्णता में सुनो। सुनने में तुम ऐसे लीन हो जाओ कि तुम बचो ही न, सुनना ही रह जाए। ऐसी घड़ी आती है। और जब ऐसी घड़ी आती है, सब प्रश्न हल हो जाते हैं। इस घड़ी को हमने सत्संग कहा है। सत्संग का मतलब है, ऐसे किसी

व्यक्ति के पास होना, जिसके जीवन में ऐसी घड़ी घट गई है। उसके पास होकर ही किसी दिन तुम्हारे जीवन में भी घड़ी घट सकती है।

लेकिन पास होने का मतलब है, बीच में दीवालें खड़ी मत करना। तुम्हारे प्रश्न भी दीवाल हो सकते हैं। तुम्हारी जानकारी दीवाल हो सकती है। तुम्हारे शब्द दीवाल हो सकते हैं। उनको हटाओ।

तीसरा प्रश्न : आपने कहा कि कृष्ण एक समन्वय हैं संसार और संन्यास के बीच। और आपने कहा कि आपका संन्यास भी कृष्ण के संन्यास जैसा है। परंतु मुझे आश्चर्य होता है कि बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य जैसे ज्ञानियों ने हजारों लोगों को संन्यास में दीक्षित किया और उन्हें भोजन आदि आवश्यकताओं के लिए समाज पर ही निर्भर रहने का आदेश दिया। यदि संन्यासी का समाज पर निर्भर रहना आपकी दृष्टि में गलत है, तो उपरोक्त परम ज्ञानियों ने क्या समझकर अपने संन्यासियों को अर्थोत्पादन की मनाही की?
बहुत—सी बातें समझनी पड़े।

पहली बात, दिन और थे, समय और था। महावीर और बुद्ध के समय में एक घर में बीस लोग होते; एक आदमी कमाता, बाकी उन्नीस खाली बैठे रहते। उतना काफी था। लोगों की जरूरतें कम थीं और पृथ्वी की संपदा बहुत थी। लोगों की आकांक्षाएं जरूरतों पर सीमित थीं। बहुत आकाश के फूल तोड़ लाने के लिए कोई पागल नहीं था। पेट भर भोजन मिल जाए, तन ढंकने को वस्त्र मिल जाएं, विश्राम के लिए छप्पर मिल जाए, बस काफी था। हर व्यक्ति सिकंदर होने के लिए पागल नहीं था; कुछ थोड़े लोग पागल थे, पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। उन दिनों धर्म जीवन में व्यापक था; राजनीति बड़ी छोटी—सी बात थी। धर्म विराट था; राजनीति सिर्फ एक कोना—कातर थी।

अब हालत बिलकुल उलटी है। अब राजनीति सब कुछ है; धर्म कोने—कातर में भी जी नहीं पा रहा है, वहा भी उसकी जान निकली जा रही है, वहां भी बच नहीं सकेगा। महत्वाकांक्षा प्रबल हुई है। अब कोई एक—दो सिकंदर नहीं होते, अब सभी सिकंदर हैं।

और संख्या बढ़ी, और पृथ्वी बोझिल होती गई, और पृथ्वी की संपदा कम हो गई। और हर आदमी पागल है असंभव वासनाओं के पीछे, जिनके मिलने से भी कुछ न होगा; न मिलीं, तो जिंदगी ऐसे गई; मिल गईं, तो भी जिंदगी ऐसे गई।

तो उन दिनों, जब एक घर में बीस आदमी होते और एक आदमी काम कर लेता और बाकी आराम से जीते, कोई अड़चन न थी कि बुद्ध ने, महावीर ने अपने संन्यासियों को अर्थोपार्जन के लिए नहीं कहा। जरूरत ही न थी; समाज करने भी न देता। यह बिलकुल सुखद था कि गांव में दो—चार— पांच लोग संन्यस्त हो जाएं। वह घर अपने को धन्यभागी मानता था जिससे एकाध व्यक्ति संन्यस्त हो जाए। वह घर अपने को दीन मानता था जिसमें कोई संन्यासी पैदा न हो, जिसमें सभी संसारी हों।

पहली बात, जरूरत न थी।

दूसरी बात, लोग तामसी न थे, लोग बड़े सात्विक थे। संन्यास की तरफ वही जाता था, जिसके जीवन में संन्यास की संभावना आई। तामसी व्यक्ति संन्यास की तरफ जाता ही नहीं था। तामसी को संन्यास का खयाल ही नहीं उठता था। संन्यास तो परम शिखर था जीवन का। सब कुछ जानकर, सब कुछ जीकर, सब कुछ अनुभव करके लोग संन्यास की यात्रा पर जाते थे।

अब हालत बिलकुल उलटी है। अब तो जो अकर्मण्य हैं, जो कुछ नहीं कर सकते हैं, आलसी हैं, प्रमादी हैं, वे संन्यास में उत्सुक हो जाते हैं। क्योंकि वे फिर संन्यास लेकर समाज की छाती पर बैठ सकते हैं दावेदार की तरह, कि तुम्हें भोजन खिलाना पडेगा।

संन्यासी अब बोझ हैं; तब बोझ न थे। तब संन्यासी जीवन को हलका करता था, निर्भार करता था, अब भारी कर देता है। अब गलत तरह का आदमी संन्यास में उत्सुक होता है। सही तरह का आदमी तो हजार बार सोचता है, इस दिशा में जाना या नहीं! गलत तरह का आदमी हमेशा तत्पर होता है।

तो तुम अजीब किस्म के संन्यासी सारे मुल्क में देखोगे। कभी कुंभ मेला चले जाओ, तो तुम्हें दिखाई पड़ जाएंगे। ये संन्यासी हैं जिनकी महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य ने आकांक्षा की थी? उनमें तुम सब तरह के लंपट, बिलकुल तृतीय श्रेणी के व्यक्ति पाओगे, जिन्होंने अकर्मण्यता को अकर्म समझ लिया है।

अकर्म तो बड़ी अनूठी घटना है, कभी—कभी घटती है, सदियों में एकाध बार घटती है, कि करते हुए कोई व्यक्ति नहीं करता। ऐसा हो जाता है, जैसे कमल पानी में होते हुए पानी नहीं छूता। लेकिन अकर्मण्यता तो बड़ी सरल बात है। कोई भी खाली बैठना चाहता है। और अगर खाली बैठने से समाज आदर देता हो, तब तो कहना ही क्या!

सारी दुनिया में जो लोग जेलखानों में बंद होते, वे हिंदुस्तान में संन्यासी हैं। तुम जेल के अपराधियों में भी इनसे बेहतर लोग पा लोगे। मगर इनमें तुम बहुत बेहतर लोग न पाओगे, दुष्ट, आलसी, अत्यंत विकृत चित्त—दशाओं से भरे हुए लोग। अगर महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य वापस लौट आएं, तो छाती पीटकर रोएंगे कि यह हमने का किया!

मगर यह होना स्वाभाविक है। इसके पीछे एक गणित है, एक अर्थशास्त्र है। उसे तुम समझ लो।

महावीर और बुद्ध ने संन्यास की जो महिमा गाई, संन्यास का सिक्का पैदा हुआ। जब भी असली सिक्का पैदा होगा, थोड़े दिन में नकली सिक्का भी अंदर आ जाएगा बाजार में। यह सीधा अर्थशास्त्र है। क्योंकि असली सिक्का इतना कीमती सिद्ध हुआ और उसको इतना सम्मान मिला, सम्राट उसके चरणों में झुके! असली सिक्के का सम्मान देखकर, न मालूम कितने अहंकारी, तामसी, व्यर्थ के लोगों को भी लगा कि यह तो बड़ा अच्छा धंधा है, इससे अच्छा कोई धंधा नहीं है। वे भी दौड़ आए मैदान में। और तुम्हें पता हो, अर्थशास्त्र का छोटा—सा नियम है, कि जब भी नकली सिक्के बाजार में आ जाते हैं, तो असली सिक्कों का चलन बंद हो जाता है, नकली चलते हैं। तुम्हारी भी जेब में अगर एक नकली सिक्का पड़ा हो और एक असली, तो तुम पहले नकली को चलाने की कोशिश करते हो। सभी नकली को चलाने की कोशिश करते हैं! असली तिजोरियों में बंद हो जाते हैं, नकली बाजार में चलने लगते हैं।

वही हुआ। असली डरने लगे संन्यास लेने से। असली संन्यास में जाने से भयभीत हो गए। क्योंकि जो ढंग दिखाई पड़ा संन्यासियों का, वह तो बड़ा ही बेहूदा था, अशोभन था। वहा संन्यास तो कुछ भी न था, वहां तो अपाहिज, लंगडे—लूले, अंधे, कोढ़ी, जिनकी जीवन में कोई जरूरत न थी, जिनका जीवन में कोई उपयोग न था, तिरस्कृत, वे सब इकट्ठे हो गए। संन्यास क्या हुआ, शंकरजी की बरात हो गई!

स्वभावत:, असली सिक्का हट गया। असली सिक्के ने कहा, छिप जाओ; इस भीड़ में तो जाना ठीक नहीं है। नकली चलता गया, असली हटता गया।

यह होना था। यह सदा होता है। जब भी कोई अच्छी चीज चलती है, तो जल्दी ही बुरी चीज भी बाजार में आ जाती है। स्वाभाविक है। क्योंकि बेईमान हैं, चोर हैं, शैतान हैं, वे इसी राह में होते हैं; वे थोड़े दिन का फायदा उठा लेते हैं।

बाजार में कोई भी एक चीज अच्छी चल रही हो, कोई दवा अच्छी चल रही हो, तुम तत्क्षण पाओगे कि झूठी दवाएं उसी नाम की बाजार में आ गईं। उन पर लेबिल वही होगा; भीतर पानी होगा।

पानी भी संदिग्ध है कि शुद्ध हो, वह भी पता नहीं कहां से भर लिया गया होगा!

यही संन्यास के संबंध में हुआ। संसार में सभी चीजों के संबंध में यही होता है।

इसलिए मैं अब संन्यास को एक दूसरा आयाम देना चाहता हूं। महावीर वापस लौटें, वे मुझसे राजी होंगे। महावीर के संन्यासी राजी नहीं होंगे; वे तो महावीर से भी राजी नहीं होंगे, मुझसे कैसे राजी होंगे! महावीर, शंकराचार्य मुझसे राजी होंगे। इसमें कोई संदेह का सवाल ही नहीं है। क्योंकि वे देखेंगे, चीज तो साफ है।

अब हमें ऐसे संन्यास को पैदा करना होगा, जो संसार पर बोझरूप न हो। उसमें तामसी आदमी उत्सुक ही न होगा। क्योंकि दुकान भी करनी पड़े, बाजार भी जाना पड़े, और गेरुआ पहनकर गाली भी खानी पड़े और लोग हंसे भी।

तामसी यह झंझट न करेगा, वह कहेगा, यह उपद्रव किसको लेना! संन्यासी हो गए; बैठेंगे, तुम पैर छुओ; भोजन लाओ, भोग लगाओ। मगर यह क्या; फायदा ही क्या इस संन्यास का कि हम जाएं, सब्जी खरीदें, नोन, तेल, लकड़ी का हिसाब रखें; और उलटे इस कपड़े की वजह से झंझटें आती हैं!

अभी एक संन्यासी ने आकर कहा कि बड़ी मुश्किल हो गई है। आदत है पुरानी धूम्रपान करने की। अब इस गेरुआ वस्त्र में कहीं भी करो, तो लोग ऐसा चौंककर देखते हैं, जैसे हम कोई अपराध कर रहे हैं!

एक संन्यासी ने मुझे कहा कि सिनेमा देखने की आदत है! एक दिन क्यू में खड़े थे, लोग ऐसे गौर से देखने लगे कि जैसे मैं कोई पाप कर रहा हूं! मैं भी भागा वहां से कि इस गेरुआ को पहने हुए क्यू में सिनेमा के हाल के बाहर खड़े होना ठीक नहीं है।

तो मेरा संन्यास तो तुम्हें अड़चन देगा, तामसी को तो उत्सुक कर नहीं सकता, जो बहुत सात्विक हैं, केवल वे ही उत्सुक हो सकते हैं। क्योंकि उससे तुम्हें कुछ लाभ तो हो ही नहीं रहा; हानि हो सकती है।

लोभी भी उत्सुक नहीं हो सकते, क्योंकि इसमें हानि होगी, लाभ नहीं हो सकता। तुम जिस ग्राहक से दो पैसे ज्यादा ले लेते हो, उससे दो पैसे कम ले पाओगे। तुम्हारा होने का ढंग करुणा का होने लगेगा, ध्यान का होने लगेगा, प्रेम का होने लगेगा। तुम चोरी आसानी से न कर पाओगे। बेईमानी करोगे भी, तो पीड़ा ज्यादा होगी; काटा गड़ेगा कि यह तुम क्या कर रहे हो! अंतःकरण का जन्म होगा। तुम्हारे भीतर की आवाज धीरे— धीरे प्रखर और प्रगाढ़ होगी, जो तुम्हें खीचेगी और रोकेगी और लगाम बनेगी।

तो इस संन्यास में तामसी को तो कोई रस हो ही नहीं सकता। इस संन्यास में लोभी को कोई रस हो नहीं सकता। क्योंकि मैं तुम्हारे जीवन की बाहर की व्यवस्था को तो बदलने को कह ही नहीं रहा हूं; मैं कह रहा हूं तुम्हीं बदल जाओ।

इससे तुम्हें अड़चनें ही होंगी। इससे तुम समाज में पाओगे कि तुम बेमौजूं हो गए। इसमें तो जिनके पास साहस है, और जिनके पास इतना साहस है कि लोग हंसे और वे उस हंसने को सह सकें शाति से, संतुलन से, सौजन्य से, जो अपने पर भी हंसने में समर्थ हैं, अब वे ही केवल मेरे संन्यास में सम्मिलित हो सकते हैं।

लोग मुझसे कहते हैं कि अब आप कहते हो तो हम लिए लेते हैं, मगर मजाक हो जाएगी।

ऐसा हुआ। बंबई के एक युवक ने संन्यास लिया। पांच—सात दिन बाद वह आया और उसने कहा कि आप मेरी पत्नी को संन्यास दे दें, बड़ी झंझट हो गई!

क्या हुआ?

उसने कहा कि पत्नी के साथ कहीं जाता हुं, लोग ऐसा देखते हैं कि…….! अब एक आदमी पूछने लगा, किसकी औरत लेकर कहां जा रहे हो? अपनी ही औरत, लेकिन इन कपड़ों की वजह से मैं जवाब भी न दे पाया कि अब क्या करूं! संन्यासी की कहीं औरत होती है?

खैर, पत्नी को संन्यास दे दिया। एक सप्ताह बाद वह अपने छोटे लड़के को लेकर आया कि इसको भी दे दें।

क्या हुआ?

हम ट्रेन में बैठे थे, दो आदमी कहने लगे कि मालूम होता है कि ये इस लड़के को भगाकर ले जा रहे हैं, छोटे बच्चे को।

अब पूरा परिवार संन्यासी है!

युग बदलता है, जीवन की धाराएं बदलती हैं, धर्म की भी धाराएं बदलनी ही चाहिए। जो कभी सच था, वह सदा सच नहीं होता। जो आज सच है, वह शायद कल सच न रह जाए। लेकिन कल की क्या चिंता करनी? आज! तुम आज हो, आज तुम्हें जीना है, उसकी फिक्र कर लेनी चाहिए।

महावीर, बुद्ध और शंकर ने तो जो कहा, सोचकर ही कहा था, अपने युग के लिए कहा था। उन्होंने कोई ठेका सभी युगों का नहीं ले लिया है। मैं जो कह रहा हूं तुमसे कह रहा हूं; कोई सारे युगों के लिए ठेका नहीं ले रहा हुं, कि हजार साल बाद तुम कहो कि यह फलां आदमी ने ऐसा कहा था।

यह हो सकता है कि मेरी बात फैलती जाए वह इतनी फैल जाए कि संन्यासी ज्यादा हो जाएं और गृहस्थ कम रह जाएं, तो गड़बड़ खड़ी हो जाएगी। तो हजार साल बाद, दो हजार साल बाद किसी को कहना पड़ेगा, बंद करो यह सब! छोड़ो घर—द्वार! असली संन्यासी वही जो हिमालय जाता है। कहना पड़ेगा। क्योंकि अगर संन्यास इतना बढ़ जाए तो उसका अर्थ खो जाएगा।

अगर संन्यासी की संख्या ज्यादा हो जाए और गृहस्थ की कम हो जाए, तो फिर संन्यासी फिक्र न करेगा, वह चोरी भी करेगा, बेईमानी भी करेगा। धीरे— धीरे गेरुआ वस्त्र स्वीकृत हो जाएंगे; फिर उनसे कोई दंश पैदा न होगा, कोई पीड़ा पैदा न होगी, कोई अंतःकरण न जगेगा। तो फिर किसी न किसी को उठकर कहना ही होगा कि अब जब यह सब ही कर रहे हो, तो यह गेरुआ तो कृपा करके छोड़ो, इसको क्यों खराब कर रहे हो?

जीवन एक वर्तुल है, वह रोज बदलता जाता है। और जो उसके साथ नहीं बदलते, वे पिस जाते हैं।

न तो तुम अतीत की फिक्र करो, न तुम भविष्य की, तुम इस क्षण की फिक्र करो, जो मेरे और तुम्हारे बीच अभी मौजूद है। इसका तुम उपयोग कर लो।

चौथा प्रश्न : कृष्ण के पास तो एक अर्जुन था, इसलिए गीता का अंत आ गया। आप तो रोज—रोज नए—नए अर्जुन जन्मा रहे हैं, आपकी गीता का अंत कैसे हो पाएगा?
हो ना भी नहीं चाहिए।

और कृष्ण की गीता का भी अंत अर्जुन के लिए हो गया हो, किसी और के लिए नहीं हुआ है। तुम्हारे लिए कृष्ण की गीता का अंत हुआ? वह तो तभी होगा, जब तुम भी उस जगह पहुंच जाओ, जहां अर्जुन पहुंच गया था, और उसने कहां कि हे महाबाहो, तुमने मुझे निःसंशय कर दिया; मेरे सारे भ्रम क्षीण हो गए; मुझे सत्य—दृष्टि उपलब्ध हुई।

अठारहवां अध्याय अर्जुन के लिए आ गया, तुम्हारे लिए थोड़े ही। तुम्हें तो अभी काफी यात्रा करनी पड़ेगी, तब अठारहवाँ उगमाय आएगा। क्योंकि वह तो अंतर्यात्रा है।

और निश्चित ही, गीता का कभी क्या अंत होता है? गाने वाले बदल जाते हैं; गीत का कोई अंत नहीं है। जिसे कृष्ण ने गाया, उसे ही मैं गा रहा हूं उसे कोई और गाएगा। सुनने वाले बदल जाते हैं, गाने वाले बदल जाते हैं; गीता तो चलती जाती है। क्योंकि गीत शाश्वत का है। अगर यह कृष्ण का ही गीत होता, तो इसका अंत आ जाता। यह तो अस्तित्व का गीत है, इसलिए तो हम इसे श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं, इसे हम भगवान का गीत कहते हैं, कृष्ण का नहीं।

कृष्ण तो एक रूप हैं, अर्जुन भी एक रूप है। इन दो रूपों से वही बोला है, उसी ने सुना है। ऐसे रूप बदलते रहेंगे। सुनने वाले बदल जाएंगे, गाने वाले बदल जाएंगे; लेकिन अस्तित्व तो दोनों के भीतर एक है। गीत जारी रहता है। गीत सनातन है।

अब सूत्रः
और हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है।

नियत कर्म कहते हैं उस कर्म को, जो शास्त्रों ने नियत किया है। शास्त्र हैं उन व्यक्तियों की वाणिया, जिन्होंने जाना है। जिन्होंने जाना है, उन्हें हम शास्ता कहते हैं; जो उन्होंने कहा है जानकर, उसे हम शास्त्र कहते हैं; जो उसे मानकर चले, उसे हम अनुशासन कहते हैं।

शास्त्र है अतीत में जाने हुए व्यक्तियों की वाणिया। उनमें बड़ा सार है। अगर आख हो देखने की, तब तो शास्त्र में बडा सार है, सब छिपा है। और अगर आख न हो देखने की, तो शास्त्र एक बोझ बन जाएगा। तब तुम गीता को ढोते रहो सिर पर।

मैंने तुमसे पीछे कहा कि शापेनहार ने जब पहली दफा गीता पढ़ी, जर्मन विचारक ने, तो गीता को सिर पर रखकर नाचने जगा। तुम कभी नाचे हो गीता को सिर पर रखकर?

नहीं; गीता से तुम्हारे पैरों में अर नहीं बंधते, नाच नहीं आता। गीता से तुम्हारे हृदय में कोई गीत थोड़े ही गूंजता है। गीता तो एक बोझ है, जिसे तुम किसी तरह निभाए जाते हो; एक भार है, एक कर्तव्य है, प्रेम थोड़े ही है।

शापेनहार नाचा। उसने गीता पढ़ी। उसने गीता के शब्द के पार देखा, निःशब्द में झांका, बादल हट गए, खुला आकाश आ गया! शब्द को पार किया, शून्य में प्रतीति हुई! तो गीता फिर जीवंत हो गई।

शब्द की खोल को हटाओ, तुम सदा जीवित को छिपा पाओगे। कृष्ण कहते हैं, शास्त्र ने जो नियत किया है, उसे छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

उसे छोड़ने का मन करेगा, क्योंकि वह तामसी मन है। वह कुछ करना नहीं चाहता, वह हर कर्तव्य से बचना चाहता है।

कृष्णमूर्ति को सुनने वाले बहुत लोग हैं। उनमें से कोई कभी मेरे पास आ जाता है, तो वह कहता है, आप गीता पर बोल रहे हैं! और कृष्णमूर्ति तो कहते हैं कि सब शास्त्र बेकार हैं। मैं उनसे कहता हूं सभी शास्त्रों ने यही कहा है। शास्त्रों का सार ही यही है कि सब शास्त्र बेकार हैं। मैं उनसे कहता हूं तुम कृष्णमूर्ति को उद्धृत कर रहे हो, यह शास्त्र हो गया। कृष्ण को उद्धृत करो कि कृष्णमूर्ति को, इससे क्या फर्क पड़ता है? कृष्ण ने अर्जुन से कहा था, कृष्णमूर्ति ने तुमसे कहा है। तुम आकर मुझे बता रहे हो, तुम शास्त्र बता रहे हो। फिर, तुमने शास्त्र पकड़ा था कभी? अगर पकड़ा ही न था, तो तुम छोड़ोगे कैसे?

कृष्णमूर्ति कहते हैं, शास्त्र छोड़ दो। वे बिलकुल ठीक कहते हैं, अपने अनुभव से कहते हैं। उनको बचपन में एनी बीसेंट और लीडबीटर ने खूब शास्त्र पकड़ाया। वह इतना ज्यादा पकड़ा दिया कि वे अभी तक छोड़े चले जा रहे हैं!

थोड़ा ज्यादा हो गया। वह अति भोजन हो गया। उससे वमन हुआ। वह अतिशय हो गया। हुआ अतिशय करुणा के कारण ही, क्योंकि एनी बीसेंट और लीडबीटर की इच्छा थी कि कृष्णमूर्ति एक जगतगुरु की तरह प्रकट हों। बुद्ध ने जिस मैत्रेय की बात कही है कि आने वाले युगों में मैत्रेय—बुद्ध पैदा होगा, तो एनी बीसेंट और लीडबीटर ने चेष्टा की कि यह कृष्णमूर्ति वह मैत्रेय बन जाएं।

तो बड़ी कठिन चेष्टा थी, क्योंकि कोई किसी को मैत्रेय बना सकता है? और उन्होंने बड़ा उपाय किया। उन्होंने इतना पढ़ाया, इतना सिखाया, इतना ध्यान करवाया कि कृष्णमूर्ति उससे घबड़ा गए, जैसे सभी छोटे बच्चे घबड़ा जाते हैं। क्योंकि छोटी उम्र थी, नौ वर्ष की उम्र थी, तब यह उपद्रव शुरू हुआ। नियम से उठाया, नियम से बिठाया, सोना

नियम से, खाना नियम से, सब चीज, एक—एक चीज का खयाल रखा कि कोई भूल—चूक न हो जाए इस व्यक्ति के बुद्धत्व में।

और हुई भी नहीं; यह आदमी बुद्ध हो ही गया। लेकिन एक खरोंच छूट गई, जो बुद्ध के ऊपर नहीं थी, जो कृष्णमूर्ति पर है। क्योंकि बुद्ध पर किसी ने जबरदस्ती चेष्टा नहीं की थी, सहज लंबी

यात्रा में घटनाएं घटी थीं। जो वर्षों में घटना चाहिए, वह एनी बीसेंट और लीडबीटर ने दिनों में घटाने की कोशिश की, जो जन्मों में घटता है, उसे वर्षों में सिकोड़ने की कोशिश की।

उसका फायदा तो हुआ। कृष्णमूर्ति जो भी हैं आज, वह उसी बीज का वृक्ष है। लेकिन नुकसान भी हुआ। नुकसान यह हुआ कि जैसा सभी छोटे बच्चों को हो जाता है। उनसे कहो, मत करो यह, तो छोटे बच्चे के अहंकार में भाव उठता है कि करके दिखा दूं। उसके अहंकार को चोट लगती है। उसे पीड़ा होती है कि मुझे सब दबाए जा रहे हैं, तो वह मौका—बेमौका देखकर विरोध करता है।

अहंकार तो चला गया कृष्णमूर्ति का, वे जाग्रत पुरुष हो गए; लेकिन मन पर जो संस्कार पड़े रह गए—वह ऐसे ही जैसे कि किसी ने छुरी से हाथ पर निशाना मार दिया, तो तुम बुद्ध भी हो जाओ, तब भी वह निशान तुम्हारे हाथ पर बना रहेगा—ऐसे मन पर निशान छूट गए। वे तो बुद्ध हो गए, लेकिन मन का यंत्र खरोंचपूर्ण हो गया। जो—जो बातें उनसे जबरदस्ती करवाई गई थीं, उन्हीं—उन्हीं के विरोध में वे चालीस साल से बोल रहे हैं। वह खरोंच जाती नहीं। वह जाएगी भी नहीं। वह खरोंच यह है कि ध्यान से कुछ भी न होगा। जरूर इस बच्चे को चार बजे, तीन बजे उठवाकर ध्यान करवाया है!

मेरे दादा थे, वे मुझे तीन बजे रात उठा लेते। उन्होंने मेरी जिंदगीभर से तीन बजे रात का जो मजा है, वह खराब कर दिया। मैं छोटा, उठने का मन नहीं, उसी वक्त नींद गहरी आ रही है, और वे खींच रहे हैं। और वे उठा लेंगे, और ठंडे पानी से स्नान, और चार बजे वे घूमने ले जाएंगे! अभी मेरी आंखें झप रही हैं, हाथ—पैर हिल नहीं रहे, और वे भागे जा रहे हैं। और वे तेजी से चलते थे। वे जिस दिन मरे, उस दिन मुझे उनके मरने से दुख नहीं हुआ। उस दिन मैंने कहा, हे भगवान! अब तीन बजे न उठना पड़ेगा। बाद में मुझे पछतावा भी हुआ कि यह भी क्या बात हुई! वे मुझे इतना प्रेम करते थे; वे तो मर गए और मुझे कुल इतना ही खयाल आया कि अब तीन बजे न उठना पड़ेगा, अब सो सकते हैं!

कृष्णमूर्ति का पीछा नहीं छूटा। ध्यान से कुछ भी न होगा! ज्यादा करवा दिया ध्यान; अपच हुआ। शास्त्र से कुछ भी न होगा! शास्त्र बोझ बन गए। गुरु कहीं नहीं ले जा सकता! गुरु ने अतिशय धक्के दिए। वह खरोंच छूट गई।

कृष्ण कहते हैं, नियत कर्म......।

शास्त्र ने जो कहा है, वह तो पूरा करो ही, क्योंकि वह जानने वालों ने कहा है। और अगर जानने वालों और तुम्हारी बुद्धि के बीच चुनाव करना हो, तो जानने वालों का ही चुनाव करना, तुम्हारी बुद्धि का क्या तुम भरोसा करते हो? ही, जब तुम बुद्ध पुरुष हो जाओ, तब तुम अपनी बुद्धि का भरोसा कर लेना। पर अभी!

और जो बुद्ध पुरुष हैं, उनका ढंग और ही है। वह हम समझने की कोशिश करेंगे।

तो कृष्णमूर्ति के पास, जो तामसी हैं, आलसी हैं, अहंकारी हैं, वे इकट्ठे हो गए हैं। क्योंकि वहा उन्हें एक रेशनलाइजेशन, एक तर्कयुक्त व्यवस्था मिल गई, कि न ध्यान करने से कोई सार है.। ध्यान उन्होंने कभी किया नहीं था। बिना ध्यान किए, ध्यान करने से कोई सार नहीं है, इससे एक छुटकारा मिल गया कि ध्यान की झंझट से मुक्त हुए। गुरु से कुछ होगा नहीं, इसलिए अब किसी के चरणों में झुकने की जरूरत न रही। झुकना वे चाहते न थे, झुकने में पीड़ा थी; अब एक तर्कयुक्त कारण भी मिल गया। शास्त्र को मानने से कुछ भी न होगा। मानना वे चाहते भी न थे, क्योंकि शास्त्र को

मानोगे, तो जीवन में एक अनुशासन लाना होगा, तब जीवन में एक अराजकता नहीं चल सकती, स्वच्छंदता नहीं चल सकती। और बड़ी हैरानी की बात तो यह है कि जितना अराजक जीवन होगा, उतना परतंत्र होता है; और जितना अनुशासित जीवन होता है, उतना स्वतंत्र होता है।

तो इस तरह के गलत लोग कृष्णमूर्ति के पास इकट्ठे हो गए। और उन सबको अपनी गलत बातों के लिए सही आधार मिल गए। कृष्णमूर्ति बहुत विचारने जैसी घटना हैं आध्यात्मिक जगत में, क्योंकि इस भांति पहले कभी किसी को जबरदस्ती बुद्धत्व की तरफ नहीं धकाया गया था। थियोसाफी ने एक अनूठा प्रयोग किया। उसका लाभ भी हुआ, उसका दुष्परिणाम भी हुआ।

व्यक्ति को जाने देना चाहिए चुपचाप अपनी ही यात्रा से, अपने ही कदमों से, अपने ही ढंग से; धकाना ठीक नहीं है। कृष्णमूर्ति के प्रयोग ने बता दिया कि अब किसी को बुद्धत्व की तरफ कभी भूलकर मत धकाना। अन्यथा वह बुद्धत्व को उपलब्ध भी हो जाए, तो भी खरोंच रह जाएगी। और खरोंच बड़े नुकसान पहुंचाएगी।

कृष्ण कहते हैं, शास्त्र में जो नियत है, वह किन्हीं अंधों की वाणी नहीं है; उसे बहुत जानकर ही उन्होंने किया है। जब तुम बुद्ध पुरुष हो जाओ, जब तुम्हारी चेतना जागे, प्रज्ञावान हो जाओ, जब तुम्हारी अंतर्ज्योति जल उठे, तब तुम अपने निर्णय से चलना, अपने प्रकाश से। अभी तो तुम्हारे पास अपना प्रकाश नहीं है। अंधेरे में चलने से तो यही बेहतर है कि तुम उधार प्रकाश से ही चलो।

अंधे के पास अपनी आख नहीं है, तो पचास—साठ साल का मूढ़ा अंधा भी एक छोटे बच्चे के कंधे पर हाथ रखकर चलता है। अपनी अंधी आंखों के बजाय—अनुभवी है माना, साठ—सत्तर साल का है —एक गैर— अनुभवी बच्चे के कंधे पर हाथ रखकर चलता है।

तो शास्त्रों के वचन तो अनुभवियों के वचन हैं। तुम अपनी अंधी आख की सलाह मानने की बजाय उनकी ही सलाह मानकर चलना। और जिस दिन तुम जाग जाओगे, उस दिन अगर चाहो तो छोड़ देना। हालांकि अक्सर बुद्ध पुरुषों ने छोड़ा नहीं है। कभी—कभी छोड़ा है, और वह छोड़ा तभी है, जब शास्त्र समय के विपरीत पड़ा है, अन्यथा नहीं छोड़ा। क्योंकि तब बुद्ध पुरुष को यह देखना है कि कहीं शास्त्र समय के विपरीत पड़ गया, तो अब उसको मानकर चलने वाला भी गड्ढे में गिरेगा। अगर शास्त्र समय के विपरीत नहीं है, तो मानकर चलना ही उचित है।

जीसस जिस रात विदा हुए अपने शिष्यों से, उन्होंने सब शिष्यों के पैर धोएं। एक शिष्य ने पूछा, आप यह क्या करते हैं? तो उन्होंने कहा कि आज रात मैं विदा हो जाऊंगा। मैं तुम्हें बताना चाहता हूं कि जब मैं तुम्हारे बीच था, तो मैं तुम्हारे पैर छूता था। मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूं कि तुम कभी अहंकारी मत बनना और जरूरत पड़े तो अपने शिष्यों के भी पैर छू लेना। क्योंकि मुझे डर है, मेरे हटते ही तुम दंभी हो जाओगे कि तुम जीसस के सबसे निकट लोग हो! तुम्हारा अहंकार प्रगाढ़ हो जाएगा।

सारिपुत्र ज्ञान को उपलब्ध हो गया, लेकिन बुद्ध के चरण छूने उसने बंद न किए। किसी ने पूछा, सारिपुत्र, अब तुम स्वयं बुद्ध हो गए, अब तुम क्यों बुद्ध के पैर छुए जाते हो? सारिपुत्र ने कहा, और दूसरे बुद्धओं को ध्यान में रखकर। अगर वे मुझे देख लेंगे कि मैं पैर नहीं छूता, वे झूकना बंद कर देंगे। मुझे तो कोई हानि न होगी, लेकिन उन्हें महाहानि हो जाएगी।

तो फिर बुद्ध पुरुष तय करेगा यह देखकर कि शास्त्र अगर समय के अनुकूल है और तुम्हारे हित में है, तो वह मानता रहेगा। वह नियम नहीं छोड़ देगा।

महावीर परम ज्ञान को उपलब्ध हो गए, लेकिन उन्होंने नियम नहीं छोड़े। नियम जैसे साधक के समय में थे, वैसे ही उन्होंने सिद्ध की अवस्था में भी जारी रखे। उसका कुल कारण इतना.....। वे छोड़ना चाहते, छोड़ सकते थे, कोई अड़चन न थी। जो पाना था, वह पा लिया था; अब नियम को बांधने की कोई जरूरत न थी। लेकिन दूसरों के लिए! क्योंकि महावीर से बहुत लोग सीखेंगे। महावीर ने तो पा लिया, इसलिए अब कोई खतरा नहीं है। अगर वे सुबह न उठें पांच बजे और दस बजे उठें, तो कोई उनका मोक्ष खो नहीं जाएगा।

क्या आप सोचते हैं, महावीर अगर सिद्ध हो जाने के बाद सुबह न उठकर दस बजे उठने लगते, तो मोक्ष खो जाता? या क्या आप सोचते हैं कि महावीर मोक्ष प्राप्त करने के बाद अगर धूम्रपान करने लगते, तो मोक्ष खो जाता? लगता बेहूदा है कि महावीर धूम्रपान करें; लेकिन अगर करने लगते, तो मोक्ष खो जाता? तब तो मोक्ष दो कौड़ी का है जो धूम्रपान करने से खो जाए, सिगरेट से भी कम कीमत का मालूम पड़ता है!

नहीं, लेकिन महावीर ने धूम्रपान नहीं किया, इसलिए नहीं कि मोक्ष खो जाएगा। न वे दस बजे सोकर उठे, इसलिए नहीं कि दस बजे तक सोने से कोई मोक्ष की विपरीतता है; बल्कि उन सबके लिए जो अभी अंधेरे में चल रहे हैं, और जिनके लिए महावीर का जीवन ज्योति—स्तंभ होगा। उनके लिए वे चुपचाप उन नियमों को पालते रहे, जिन नियमों की अब कोई सार्थकता महावीर के लिए नहीं।

कृष्ण को तो पक्का पता है, कृष्ण के लिए स्वयं तो नियत कर्मों का कोई मूल्य नहीं है। लेकिन अर्जुन के लिए! आने वाले अर्जुनों के लिए! सदियों तक उनका वक्तव्य अर्थपूर्ण रहेगा।

तो वे कहते हैं हे अर्जुन, नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं। जो शास्त्र ने कहा है, उसे तो करना ही है। उसका त्याग करना तमस त्याग कहा गया है।

उसे अगर तुमने छोड़ा, तो उसका अर्थ होगा कि वह तुम आलस्य के कारण छोड़ रहे हो, तमस के कारण छोड़ रहे हो, मूर्च्छा के कारण। ज्ञान की भला तुम कितनी ही बातें करो, उन बातों का कोई मूल्य नहीं है।

और यदि कोई मनुष्य, जो कुछ कर्म है वह सब ही दु:खरूप है, ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता।

और ऐसा भी हो सकता है कि कोई सोच ले कि जीवन में सभी दुख है। जैसा बुद्ध ने कहा है, सब दुख है। दुख सार सत्य है, दुख प्रथम आर्य सत्य है। ऐसा सोचकर अगर सारे जीवन को छोड़कर कोई भाग जाए, तो भी कृष्ण कहते हैं, वह ठीक नहीं कर रहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि कृष्ण कहते हैं, बुद्ध ने गलत किया।

कृष्ण यही कह रहे हैं कि बुद्ध अपवाद हैं; अपवाद को नियम कभी मानना मत। बुद्ध ने जो किया, उससे अन्यथा वे कर ही न सकते थे। बुद्ध ने जो किया, वही होने को था। बुद्ध के जीवन में उसकी संगति है।

फिर बुद्ध ने किसी से पूछकर नहीं किया। बुद्ध को भयंकर प्रतीति हुई जीवन में, दुख ही दुख सब तरफ! वे छोड्कर चले गए। ऐसा सोचकर अगर तुम भी छोड्कर चले जाओ जीवन को, तो यह त्याग भयपूर्ण हुआ; तुम दुख से भयभीत हो गए। बुद्ध दुख से भयभीत नहीं हुए थे, दुख से जागे थे।

कृत्य तो एक—से हो सकते हैं, अर्थ अलग—अलग हो सकता है। इसे तुम याद रखना।

बुद्ध तो जागे कि जीवन दुख है, इसलिए छोड़ा। लेकिन तुम, जीवन दुख है, ऐसा भयभीत हो सकते हो कि यहां तो दुख ही दुख है, कोई सार नहीं, भय लगता है, मौत आ रही है, नरक में पड़ना पड़ेगा। इन सब भय को इकट्ठा करके अगर भाग जाओ, तो यह भय कोई जागरण नहीं है।

जो ऐसा समझकर छोड़ दे, उसके त्याग को, कृष्ण कहते हैं, वह राजस त्याग है। उसके पास ऊर्जा थी, शक्ति थी भागने की, त्यागने की, उसने उपयोग कर लिया, लेकिन उपयोग जागरणपूर्वक नहीं हुआ।

और हे अर्जुन, करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर जो शास्त्र—विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्विक त्याग माना गया है।

करना कर्तव्य है, ऐसा जानकर तुम जो भी करते हो, उससे तुम मुक्त हो जाते हो। करना कर्तव्य है, ऐसा जानकर जो भी किया जाता है, उसकी कोई रेखा तुम्हारे ऊपर नहीं छूटती, जैसे तुमने किया ही नहीं, परमात्मा ने करवाया। उसकी मरजी थी, हुआ; तुम अपने को बीच में लाते ही नहीं। तुम ज्यादा से ज्यादा नाटक के एक पात्र हो जाते हो।

लेकिन हमारे जीवन की तो हालतें उलटी हैं। हम तो नाटक के पात्र में भी भूल जाते हैं; वहा भी ऐसा लगने लगता है कि हमारा जीवन दाव पर लगा है। नाटक में अभिनय करने वाले लोग भी कभी—कभी भूल जाते हैं कि यह सिर्फ अभिनय कर रहे हैं; वास्तविक हो जाता है, भ्रांति गहन हो जाती है।

तुम्हें भी कभी ऐसा अनुभव हुआ हो, कभी तुम किसी चीज का नाटक करके देखो।

पश्चिम में एक नया मनोवैज्ञानिक प्रयोग चलता है, उसे वे साइकोड्रामा कहते हैं। समझो कि कोई आदमी कहता है कि मुझे क्रोध से बहुत तकलीफ होती है। तो मनसविद उससे कहता है, तुम बैठो इस कुर्सी पर, यह तकिया सामने रख लो, किस पर तुम्हें क्रोध आता है? वह कहता है, मेरी पत्नी पर। तो मनोवैज्ञानिक कहता है, तुम इस तकिए को पत्नी मान लो।

अब यह सिर्फ नाटक है। तकिया कोई पत्नी है? पत्नी सुन ले कि ऐसा माना गया, तो तलाक ही दे दे। तकिए को पत्नी!

लेकिन वह आदमी भी मानता है कि यह नाटक है। वह बैठ जाता है, तकिए को पत्नी मान लेता है। पहले वह हंसता है कि ऐसे कहीं क्रोध आएगा! वह कहता भी है कि ऐसे कहीं क्रोध आएगा! मनोवैज्ञानिक कहता है, तुम शुरू करो। तुम बोलना शुरू करो। फिर जब क्रोध आने लगे, तो पीटना शुरू करो तकिए को।

एक, दों—तीन मिनट लगते हैं और आदमी धीरे—धीरे आविष्ट हो जाता है, वह पीटने लगता है, फेंकने लगता है। और जब वह पीटने, फेंकने लगता है तकिए को, तब कोई भी भेद नहीं रह जाता, चित्त पूरा का पूरा पकड़ लेता है। कृत्य हो गया, वह जो अभिनय था, वास्तविक हो गया।

अभिनय में भी हम वास्तविकता को आरोपित कर लेते हैं। और क्या कह रहे हैं, तुम वास्तविकता में भी अभिनेता हो जाओ। करना है; क्योंकि लिखा है नाटक के अंकों में, इसलिए पूरा करना है। तुम्हें कुछ बीच में आना नहीं है। लेकिन सपने तक में तुम बीच में आना चाहते हो।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन ने एक रात सपना देखा कि कढ़ाई के पास खड़ा है और गोबर तल रहा है। खुद भी घबड़ा गया कि यह भी कोई बात है! घबड़ाहट में नींद खुल गई। सुबह ही सुबह भाग। हुआ एक ज्योतिषी के पास गया, जो कि सपनों के अर्थ बताता था। ज्योतिषी से कहा कि बहुत बुरा सपना आया। ऐसा सपना तो कभी सुना भी नहीं कि किसी को आया हो, बड़ा चित्त ग्लानि से भरा हुआ है। सपना यह है कि मैं गोबर तल रहा हूं। नींद टूट गई, इतना दुख हुआ। इसका क्या अर्थ है?

उस ज्योतिषी ने कहा कि एक रुपया लगेगा, अर्थ बता दूंगा। नसरुद्दीन ने कहा कि नासमझ, अगर एक रुपया ही मेरे पास होता तो गोबर तलता? मछलियां न खरीद लाता?

सपने को भी लोग वास्तविक समझते हैं! रुपया होता तो वह मछलियां खरीद लाता!

जिसने जीवन को ठीक से समझा, उसने समझा कि न तो तुम अपने कारण पैदा हुए हो, न अपने कारण जीते हो, न अपने कारण पराग; वह महाकारण, तुम्हारे सारे जीवन के भीतर छिपा परमात्मा है। कर्तव्य है 1 बस करना है, इसलिए किए चले जाओ। सब उस पर छोड़ दो।

कृष्ण का सार—सूत्र समर्पण है। समर्पण की इस भाव—दशा में ही फलाकांक्षा शून्य हो जाती है; फल का कोई सवाल नहीं है : फल की चिंता वह करे।

एक सूफी फकीर हज की यात्रा पर जा रहा था। जहाज पर हजारों यात्री थे। दूसरे ही दिन भयंकर तूफान आया। प्राण कैंप गए जहाज के। बड़ा शोरगुल, उत्पात मच गया, त्राहि—त्राहि, हाहाकार! लगता था, अब गए, अब गए, बचेंगे नहीं! समुद्र बिलकुल विक्षिप्त मालूम होता था! ऐसी उड़ा तरंगें उठ रही थीं कि जहाज को डुबा ही देंगी! जहाज छोटा मालूम पड़ने लगा, जैसे एक छोटी—सी नाव हो, तरंगें इतनी भयंकर थीं!

कैप्टेन चिल्ला रहा है लाउडस्पीकर पर, आज्ञाएं दे रहा है! जीवन को बचाने के लिए नावें उतारी जा रही हैं, मल्लाह सजग हो गए हैं। सब कंप रहे हैं। स्त्रियां रो रही हैं, चिल्ला रही हैं। बच्चे चीख रहे हैं। कुत्ते भौंक रहे हैं। भाग—दौड़ मची है। एकदम पागलपन है! मौत की घड़ी है! सिर्फ वह एक सूफी फकीर जगह—जगह खड़े होकर बड़े मजे से देख रहा है। न केवल देख रहा है, बल्कि बड़ा प्रसन्न भी हो रहा है, जैसे कि एक भीतरी आनंद हो! एक बूढ़ा आदमी उसे देखते—देखते क्रोध से भर गया। उसने कहा, सुनो जी! होश में हो? इधर इतने लोगों की जान जा रही है, तुम कोई नाटक देख रहे हो? तुम्हारी अकल में आ रहा है कि क्या हो रहा है?

उस सूफी फकीर ने कहा, महानुभाव, आप इतने उत्तेजित क्यों हो रहे हैं? क्या जहाज आपके बाप का है? डूब रहा है, डूब रहा है! एक ऐसी भाव—दशा है। जब डूबे तो उसका, न डूबे तो उसका, बचे तो उसका, न बचे तो उसका, और आदमी अपने को बीच से हटा लेता है। तब कोई दुख तुम्हें दुख नहीं दे सकता, और कोई सुख तुम्हें विक्षिप्त नहीं कर सकता। तब तुम्हारे जीवन में एक परम शांति की दशा निर्मित हो जाती है। तब एक रसधार बहने लगती है, जिसे हम आनंद कहते हैं।

और हे अर्जुन, करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर ही जो शास्त्र—विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति को और फल को त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्विक त्याग माना गया है।

सात्विक त्याग का अर्थ है, फल का त्याग। सात्विक त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं। कर्म तो करना ही है। कर्म तो जीवन है। और परमात्मा ने जीवन दिया है, तुम भागने वाले कौन? और परमात्मा ने तुम्हें भेजा है, तुम त्यागने वाले कौन? जिस विराट से तुम्हारा आना हुआ है, उसी विराट पर छोड़ दो चिंताएं। जहाज तुम्हारा नहीं है। उसकी मर्जी! और उसकी मर्जी में पूरे राजी हो जाओ।

फिर तुम करोगे भी और कर्म की रेखा भी तुम पर न पड़ेगी। तुम फिर जल में कमलवत हो जाओगे! और जो जल में कमलवत हो जाए, उसके जीवन में परम धन्यता प्रकट होती है।

प्रवचन 15. सदगुरू की खोज

सूत्र—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। 10 ।।
न हि देहभृता शाक्यं त्यक्तुं कर्माण्यझेशतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीक्ते।। 11 ।।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित्।। 12 ।।

और हे अर्जुन, जो पुरुष अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्म में आस्क्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्वगुण से युक्त हुआ पुरुष संशयरहित मेधावी अर्थात ज्ञानवान और त्यागी है।

क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा संपूर्णता से सब कर्म त्यागे जाना शक्य नहीं है। इससे जो पुरूष कर्मो के फल का त्यागी है, क ही त्यागी है, ऐसा कहा जाता है।

तथा सकामी पुरूषों के कर्म का ही अच्छा बुरा और मिश्रित, ऐसे तीन प्रकार का कल मरने के पश्चात भी होता है और त्यागी पुरुषों के क्रमों का फल किसी काल में भी नहीं होता है।

पहले कुछ प्रश्न।

पहला प्रश्न : आपने कहा कि ज्ञानियों ने जो कहा, वह शास्त्र है और अज्ञानियों को उन्हें मानना ही चाहिए। लेकिन प्रश्न है कि शास्त्र अनेक हैं और उनके वचन अनंत, और अज्ञानी तो अज्ञानी ही ठहरा, फिर वह कैसे तय करे कि क्या उसके मानने योग्य है?

पहली बात, न तो शास्त्र अनेक हैं और न उनके वचन अनंत। एक ही बात को अनेक—अनेक रूपों से जरूर कहा गया है। लेकिन बात एक ही है।

एकं सद् विप्रा: बहुधा वदंति।

उस एक को ही जानने वालों ने बहुत—बहुत भाति से कहा है। कुरान का एक ढंग है, गीता का दूसरा ढंग है, बाइबिल का तीसरा। पर बात वही है। और अगर तुम वस्तुत: अज्ञानी हो, तो कठिनाई न होगी यह बात समझने में कि तीनों शास्त्रों ने एक ही बात कही है। कठिनाई तो तब होती है, जब तुम झूठे ज्ञानी होते हो; जब पांडित्य तुम्हारे सिर पर सवार होता है, तब कठिनाई होती है।

अज्ञानी तो सरल होता है। अज्ञानी के पास शब्दों का कोई बोझ नहीं होता, न आख अंधी होती है, निर्मल होती है। ज्ञानी, तथाकथित ज्ञानी उपद्रव खड़ा करता है। वह तथाकथित ज्ञानी कहता है, जो गीता में कहा है, वह कुरान में नहीं है। क्योंकि इस तथाकथित ज्ञानी की पकड़ शब्दों पर है, सार पर नहीं; भाषा पर है, भाव पर नहीं। इसे शास्त्र की लकीरें घेर लेती हैं; शास्त्र के शून्य रिक्त स्थान इसे दिखाई नहीं पड़ते।

दुनिया में जो कलह है, वह पंडितों के कारण है, अज्ञानियों के कारण नहीं। मौलवी लड़ता है, लडवाता है; पंडित लड़ता है, लडवाता है। अज्ञानी का क्या झगड़ा है!

थोड़ी देर को सोचो, अगर दुनिया में पंडित न हों, तो दुनिया में हिंदू मुसलमान, ईसाई होंगे? अगर होंगे भी, तो बड़े सरल होंगे। चर्च पड़ जाएगा, तो तुम वहा भी नमस्कार कर लोगे, और मस्जिद आ जाएगी पास, तो कभी वहा भी प्रार्थना कर लोगे, क्योंकि कोई तुम्हें समझाने वाला न होगा कि मंदिर अलग है, मस्जिद अलग है। यह तो समझाने वालों ने उपद्रव खड़ा किया है।

सरल आदमी का कोई भी झगड़ा नहीं है। और अज्ञान में बड़ी सरलता है।

तो तुम जब पूछते हो कि अज्ञानी कैसे तय करे कि कौन—सा शास्त्र ठीक है, तुम काफी ज्ञानी हो गए; अज्ञानी तुम हो नहीं। यह काफी ज्ञान की बात हो गई; यह तो बड़ी समझदारी आ गई। अन्यथा तुम पहचान लोगे। तुम पहचान लोगे कि फर्क शब्दों का हो सकता है, लेकिन फर्क सत्य का नहीं है।

कोई एक ढंग से प्रार्थना करता है, कोई दूसरे ढंग से प्रार्थना करता है। कोई पूरब की तरफ सिर करके प्रार्थना करता है, कोई पश्चिम की तरफ सिर करके प्रार्थना करता है। लेकिन प्रार्थना का भाव, वह समर्पण, उस अनंत के चरणों में सिर रखने की वह धारणा, वह तो एक ही है।

अगर पंडित—मौलवी न हों, तो कोई झगड़ा नहीं है। तुम सभी जगह उस एक ही ध्वनि को सुनते हुए पाओगे, सभी जगह वही सार तुम्हें समझ में आ जाएगा।

इसलिए पहली तो बात, शास्त्र अनेक नहीं हैं, दिखाई पड़ते हैं। हो नहीं सकते अनेक। सत्य अनेक नहीं है, तो शास्त्र कैसे अनेक हो सकते हैं? भाषाएं तो अनेक होंगी, क्योंकि जमीन पर कोई तीन सौ भाषाएं हैं। तो जो आदमी अरबी

जानता है, जब सत्य को उपलब्ध होगा, तो संस्कृत नहीं बोलेगा, अरबी ही बोलेगा। उसमें जो गीत पैदा होगा, वह अरबी भाषा को ही पकड़कर तरंगित होगा, तुम तक आएगा। कुरान ऐसा ही गीत है।

गीत को देखो, शब्द को छोड़ो, छंद को पकड़ो। तो उपनिषद में जो छंद है, वही कुरान में है। उपनिषद में जो गीत है, वही कुरान में है। धुन को पकड़ो, मस्ती को पकड़ो, तो उपनिषद जिन्होंने गाया है, तुम उन्हें उसी मस्ती में, उसी नशे में डोलते पाओगे, जिस नशे। में मोहम्मद को डोलते हुए पाया गया है।

क्या तुम समझते हो कि फर्क दिखाई पड़ेगा मस्ती में? नहीं, मस्ती में कोई फर्क न दिखाई पड़ेगा। ही, चोटी न बढ़ी होगी मोहम्मद की। चोटी कोई शास्त्र है? जनेऊ न पड़ा होगा गले में। जनेऊ कोई शास्त्र है?

तुमने अगर व्यर्थ को देखा, तो फर्क पाओगे, अगर सार्थक को देखा, तो जरा भी फर्क न पाओगे।

और दूसरी बात कि उपद्रव तुम्हारे ज्ञान के कारण है, अज्ञान के कारण नहीं। अज्ञान की बड़ी मधुरिमा है। काश, तुम अज्ञानी हो सको, तो तुम्हारे ज्ञानी होने का द्वार खुल जाए।

लेकिन तुम ज्ञानी होने के पहले ज्ञान से भर जाते हो। वे शब्द तुम्हारे चारों तरफ इकट्ठे हो जाते हैं। फिर वे शब्द द्वार नहीं खुलने देते, फिर तुम शब्दों में जीते हो। तुम्हारे असली प्रश्न भी खो जाते हैं, वे भी नकली हो जाते हैं। तुम जीवन के साक्षात्कार की आकांक्षा नहीं करते, तुम सिद्धांतों को समझने की आकांक्षा करने लगते हो। मेरे पास कोई आता है, दुखी है, अशांत है। और पूछता है, संसार परमात्मा ने बनाया या नहीं?

तुम अपनी गृहस्थी से ही काफी परेशान हो रहे हो, इतनी बड़ी गृहस्थी का बोझ मत लो। संसार किसने बनाया या नहीं बनाया, यह तुम्हारे प्राणों का प्रश्न भी कहा है! इससे तुम्हें लेना—देना क्या है? और बनाया हो किसी ने, यह जान लेने से तुम्हारे जीवन के। प्रश्न कहां हल होंगे? न बनाया हो किसी ने, तो भी क्या फर्क पड़ेगा; तुम तो तुम ही रहोगे।

ये व्यर्थ के प्रश्न हैं। सार्थक प्रश्न हमेशा वास्तविक होता है। तुम पूछते हो कि मैं अशांत क्यों हूं? तुम पूछते हो कि शांत होने का उपाय क्या है? तुम पूछते हो कि मैं दुख से भरा हूं आनंद की एक किरण नहीं जानी, कैसे जानूं? कैसे खोलूं वातायन? कैसे आख खुले? कैसे अंधेरे के बाहर आऊं? टटोलता हूं. दीए को, पाता हूं लेकिन कैसे जलाऊ? ज्योति कैसे जले?

और तुम्हारी ज्योति जले आनंद की, और शांति की बरखा होने लगे तुम्हारे आस—पास, तो तुम जानोगे। वे सब प्रश्नों के उत्तर भी जान लोगे, जो तुमने इसके पहले पूछे होते, तो व्यर्थ ही पूछे होते। और उन प्रश्नों के उत्तर जानने तुम्हें किसी के पास न जाना होगा। जो शांत हुआ, उसे परमात्मा दिखाई पड़ने लगता है। असली सवाल परमात्मा नहीं है, असली सवाल शांति है।

शास्त्रों से तुम परमात्मा को मत पूछो, शास्त्रों से तुम शांति सीखो। और सभी शास्त्र शाति सिखाते हैं। सभी शास्त्र ध्यान की विधियां बताते हैं। सभी शास्त्र इशारे करते हैं कि कैसे तुम आनंदित हो जाओगे। फिक्र छोड़ो, कुरान से सीखते हो कि गीता से सीखते हो! किस घाट से पीते हो पानी; सारा पानी गंगा का है। कहीं से भी पी लो; घाटों के नाम पर बहुत ध्यान मत दो; उनका कोई भी मूल्य नहीं है।

उपद्रव लेकिन ज्ञान के कारण हो रहा है। तुम हिंदू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, जैन हो, यह अड़चन है। अज्ञानी हो, यह अड़चन नहीं है। अज्ञानी हो, तब तो बिलकुल भले हो; कोई अड़चन नहीं है। सरल हो, सीधे हो; मन की पट्टी खाली है, उस पर कुछ लिखा जा सकता है। भरे नहीं हो, जगह है तुम्हारे भीतर; सत्य को निमंत्रण दिया जा सकता है।

मैं तो अज्ञान की महिमा के गीत गाता हूं। अगर तुम अज्ञानी ही हो सको, तो तुम पाओगे, ज्ञान तुम पर बरसने लगा। अज्ञान को जान लेना ज्ञान का पहला कदम है।

लेकिन अड़चन कहा से आ रही है? अड़चन यहां से आ रही है, अज्ञान तो मिटा नहीं और तुमने कूड़ा—कचरा इकट्ठा कर लिया। शास्त्र से तुमने साधना नहीं सीखी, शास्त्र से तुमने सिद्धांत सीखे।

शास्त्र से अनुशासन सीखो! शास्त्र का मतलब ही यही होता है कि जिससे अनुशासन मिले, वह शास्त्र। जो तुम्हें जीवन की विधि दे, वह शास्त्र। लेकिन वह तुम्हें सुनाई नहीं पड़ती।

और तुम अपने शब्दों से इतने भरे हो कि मैं भी तुमसे जब बोल रहा हूं तब पक्का नहीं है कि तुम वही सुनते हो, जो मैं तुमसे कहता हूं। तुम्हारे शब्द उसमें बाधा डालते होंगे, रंग बदल देते होंगे, धुन बदल देते होंगे, अर्थ बदल देते होंगे।

आदमी वही सुनता है, जो सुनना चाहता है। आदमी वही सुनता है, जो वह पहले ही सुन चुका है। आदमी उसको छोड़ देता है, जो उसके भीतर न पच सकेगा। उसको पचा लेता है, जो पहले से पचा हुआ है।

तम मेरे पास आकर, अगर हिंदू हो, तो वही सुन लोगे जो हिंदू एन सकता है। अगर मुसलमान हो, तो वही सुन लोगे जो मुसलमान सुन सकता है। मुसलमान और मुसलमान होकर चला जग़ागा; हिंदू और हिंदू होकर चला जाएगा। और मैं चाहता था कि हिंदु, मुसलमान मिट जाएं।

मैं एक वैद्यजी के घर में ठहरा हुआ था। पंडित आदमी हैं। वे स्नान कर रहे थे सुबह—सुबह। मैं अखबार पढ़ रहा था बाहर बैठकर। उनका लड़का एक कोने में बैठकर अपने स्कूल का काम कर रहा था। वह जोर—जोर से कुछ रट रहा था। वह रट रहा था, अलंकार के भेद चार होते हैं, लाटानुप्रास, वृत्यानुप्रास, छेकानुप्रास, अंत्यानुप्रास...।

वह रट रहा था। मैंने उस पर कोई ज्यादा ध्यान भी नहीं दिया था। ध्यान तो तब दिया जब वैद्यजी, जो स्नान कर रहे थे अंदर स्नानगृह में, वहीं से चिल्लाए, अरे नालायक, कहां की दवाइयों के नाम रट रहा है! अपना च्यवनप्राश! उसकी तो विदेशों तक में मांग है। रख नंबर एक पर, च्यवनप्राश। यह कहां का छेकानुप्रास, अंत्यानुप्रास......।

लड़का भी चौंका, मैं भी चौंका। लेकिन तभी पत्नी, जो चौके में काम कर रही थी, जोर से भन्नाई। उसनै कहा, तुम अपना स्नान करो और दूसरों को अपना काम करने दो। यह तुम्हारे च्यवनप्राश की वजह से इस घर में कोई बीमार तक नहीं पड़ सकता। च्यवनप्राश! च्यवनप्राश! कोई बीमारी आ जाए, तो डर लगता है बताने में कि तुम फिर वह च्यवनप्राश ले आओगे!

कोई किसी की सुनता हुआ मालूम नहीं पड़ता। पत्नी शांत हो गई। मैं अपना अखबार पढ़ने लगा। लडका फिर देखकर कि उपद्रव जा चुका, फिर याद करने लगा, अलंकार चार प्रकार के होते हैं......। ऐसा वर्तुल है। कोई किसी की सुन नहीं रहा है। अपनी— अपनी सुन रहे हैं लोग।

शास्त्र की तुम कहां सुनते हो! शास्त्र के पास भी अगर तुम अज्ञानी होकर जाओ—अज्ञानी होकर जाओ मतलब, बालक की तरह होकर जाओ—तों शास्त्र भी तुम्हें जगा देगा। लेकिन तुम तो जीवित शास्त्रों के पास भी, गुरुओं के पास भी ज्ञानी होकर आते हो। वे भी तुम्हें नहीं जगा पाते।। शास्त्र तो मुरदा है, कागज पर खींची आड़ी—तिरछी लकीरें हैं। लेकिन वह भी जगा देगा, अगर तुम पंडित की तरह न गए, प्यासे की तरह गए, तो शास्त्र भी जगा देगा। और अगर पंडित की तरह तुम आए सदगुरु के पास भी, तो सदगुरु भी तुम्हें जगा नहीं पाएगा। तुम सदगुरु से भी अपनी नींद के बहाने खोजकर वापस लौट जाओगे।

इस बात को तय करने की जरूरत ही नहीं कि क्या मानने योग्य है, क्या मानने योग्य नहीं है। तुम कैसे तय करते हो, क्या खाने योग्य है, क्या खाने योग्य नहीं है? जो पच जाता है, जो स्वस्थ करता है, शक्तिवर्धक है, उसे तुम खाने योग्य समझ लेते हो। पत्थर—कंकड नहीं खाते। अज्ञानी से अज्ञानी नहीं खाता पत्थर—कंकड़। क्यों? जानता है, वे पचेंगे नहीं; दुख देंगे, पीड़ा देंगे।

जीवन जिससे रसपूर्ण हो जाए, वही चुनने योग्य है। जीवन में जिससे स्वास्थ्य बढ़े, सौरभ बढ़े, वही चुनने योग्य है। जीवन जिससे उत्सव बने, वही चुनने योग्य है। जिससे उदास हो जाए; टूट जाए, खंडहर हो जाए, वही छोड़ देने योग्य है।

मैं तुम्हें सिद्धांत चुनने की बात ही नहीं कर रहा; जीवन तुम्हारे पास है, वही कसौटी है। तुम उस पर ही कसे चलो।

जब तुम झूठ बोलते हो, तो जीवन में आनंद बढ़ता है? बस, इसको ही देखो। अगर बढ़ता हो, तो मैं कहता हूं झूठ ही बोलो। मैं तुमसे कभी न कहूंगा कि सच बोलो। अगर धोखा देने से, बेईमानी करने से, दूसरों को कष्ट देने से तुम्हारे जीवन में आनंद की वर्षा होती हो, तो वही धर्म है। तुम वही करो। किसी की मत सुनो। लेकिन ऐसा कभी होता नहीं। ऐसा हो नहीं सकता। वह जीवन का विधान नहीं है।

शास्त्र केवल इतना ही कहते हैं, वह जो अनंत— अनंत बार जाना गया है, उसी को दोहराते हैं, हर जानने वाले ने जो अनुभव किया ' है, उसी को दोहराते हैं। वे इतना ही कहते हैं, कंकड़—पत्थर मत खाओ। झूठ दुख देगा; सुख का कितना ही आश्वासन दे ,, दुख देगा। दूसरे को दुख दोगे, दुख लौटेगा। दूसरे को सताओगे, सताए जाओगे। अशांति पैदा करोगे लोगों के जीवन में, तुम्हारे जीवन में अशांति की प्रतिध्वनि होगी। और कुछ भी न होगा। क्योंकि संसार तो दर्पण है। तुम्हें अपना ही चेहरा सब तरफ दिखाई पड़ने लगेगा। तुम अपने ही चेहरों से घिर जाओगे।

बस, शास्त्र इतना ही कहते हैं। शास्त्र सीधे—साफ हैं। उलझाया है तो पंडितों ने। वे एक एक शब्द की इतनी बाल की खाल निकालते रहते हैं कि यह भूल ही जाता है कि शास्त्र भोजन की तरह है। वह चर्चा करने के लिए नहीं है बैठकर वह पचाने के लिए है। वह तुम्हारा खून बने, हड्डी—मांस—मज्जा बने।

बोधिधर्म चीन गया। जब वह वापस लौटने लगा नौ वर्ष के बाद, तो उसने अपने चार शिष्य, जो कि श्रेष्ठतम थे, जो अर्जुन जैसे होंगे, जो पुरुषश्रेष्ठ थे, जिन्होंने उसको पूरी तरह पचाया था, उनको बुलाया। और उसने पहले से पूछा कि मैं जाता हूं; परीक्षा की घड़ी आ गई। सार की बात जो तूने मुझसे सीखी हो, कह दे। उस व्यक्ति ने कहा, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, यही धर्म है। बोधिधर्म ने कहा, तेरे पास मेरा शरीर है।

दूसरे से पूछा। उसने कहा, योग, साधना, विधियां, अभ्यास, यही सार है। बोधिधर्म ने कहा, तेरे पास मेरा मांस है।

तीसरे से पूछा। उसने कहा, ध्यान, शाति, शून्यता, यही सारा राज है, कुंजी है। बोधिधर्म ने कहा, तेरे पास मेरी हड्डियां हैं।

चौथे की तरफ आख फेरी। चौथा उसके चरणों पर गिर पड़ा; बोला कुछ भी नहीं। बोधिधर्म ने उठाया, उसकी आंखों में झांका। वह बोला कुछ भी नहीं। उसने कहा, तेरे पास मेरा सब कुछ है, मेरी आत्मा है।

क्या मामला था? एक ने इतना ही पचाया की चमड़ी बनी। बस, ऊपर—ऊपर रही। पचाया उसने भी, क्योंकि चमड़ी भी बिना पचाए नहीं बनती। लेकिन परिधि पर ही छुआ। दूसरा थोड़ा भीतर गया, वह मांस बना। उसने गुरु को थोड़ा गहरा पचाया। तीसरा और भीतर गया। उसने गुरु को और आत्मसात किया, वह हड्डियां बन गया। चौथा इतना गहरा गया कि कह भी न सका कि कितना गहरा गया हूं। क्योंकि जो शब्द में आ जाए, वह कोई गहराई है? जो कही जा सके, वह भी कोई समझ है? समझ तो अतीत है सब वचनों के। इसलिए वह चुप ही रह गया। उसने सिर्फ अपनी आंखें गुरु के सामने कर दीं कि अगर कुछ हुआ हो, तो तुम देख लो। मैं क्या कहूं! कहने को कुछ भी नहीं है। धर्म क्या कहा जा सकता है! कितना तुम पचाते हो? इसकी फिक्र छोड़ो कि शास्त्र अनेक हैं, कौन से चुनें। कोई भी चुन लो। जो हाथ आ जाए, वही काम दे देगा। इसकी बहुत बिगचना में मत पड़ो, क्योंकि समय व्यतीत होगा, जीवन खोएगा।

इसलिए पुराने दिनों में एक सहज व्यवस्था थी, और वह यह थी कि तुम जिस परंपरा में पैदा हुए हो, चुपचाप उसके शास्त्र को मानकर चलते चले जाओ। ताकि व्यर्थ की उलझन न खड़ी हो, कहां चुनो, क्या करो। जिस परंपरा में पैदा

हुए हो, चुपचाप उस शास्त्र में डूबते चले जाओ। उसी शास्त्र में डूबकर तुम एक दिन पाओगे, सब परंपराओं के पार निकल गए।

कोई परंपरा तोड्ने की भी जरूरत नहीं है। उसमें से भी ऊपर जाने का उपाय है। गहरे गए कि ऊपर चले जाओगे। उथले रहे कि भीतर रह जाओगे। परंपरा बांधती है उनको, जो डुबकी लगाते ही नहीं। जो डुबकी लगाना जानते हैं, वे तो परंपरा में से भी परम स्वतंत्रता को उपलब्ध हो जाते हैं।

मगर अब यह न हो सकेगा। बात बिगड़ गई। वह बात गई, वह समय न रहा। अब तो सारी दुनिया छोटा—सा गांव बन गई है। अब तो यह असंभव है कि हिंदू मुसलमान से अपरिचित रह जाए। यह संभव नहीं है कि ईसाई हिंदू से अपरिचित रह जाए। और बुरा भी नहीं है, एकदम शुभ है।

सारे शास्त्र सब के लिए खुल गए हैं। हिंदू के लिए मंदिर था, मुसलमान के लिए मस्जिद थी, ईसाई के लिए चर्च था, अब सब मिश्रित हो गए। एक महासंगम घटित हुआ है पृथ्वी पर। इस महासंगम में जो नासमझ अपने को समझदार समझ बैठे हैं, वे बहुत कुछ गंवा देंगे। जो नासमझ अपने को नासमझ समझते हैं, वे बहुत कुछ बचा लेंगे।

अगर तुम अज्ञानी हो, तो इस महासंगम से बहुत लाभ होगा; क्योंकि तुम देख पाओगे। शब्दों से खाली आंखें कुरान में गीता को खोज लेंगी, गीता में कुरान को देख लेंगी। और तुम्हारा अहोभाव बढ़ेगा, तुम्हारी श्रद्धा और भरपूर होगी। क्योंकि सभी शास्त्र यही कहते हैं। सदियों—सदियों में, अलग—अलग देशों में, अलग—अलग हवाओं, परंपराओं में जो भी कहा गया है, वह सब एक ही तरफ इशारा करता है। अंगुलियां कितनी ही हों, चांद एक है।

तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी, अगर तुममें थोड़ी—सी भी सरलता है। अगर नहीं है, तो तुम बड़े डांवाडोल हो जाओगे। तुम हिंदू थे अब तक, विश्वास था; वह विश्वास भी डगमगा जाएगा। क्योंकि कुरान कुछ और कहती मालूम पड़ेगी, बाइबिल कुछ' और कहती मालूम पड़ेगी। तुम उस हालत में हो जाओगे, जैसे धोबी का गधा, न घर का न घाट का। मस्जिद जाओगे, तो मंदिर बुलाएगा। मंदिर जाओगे, तो मस्जिद पुकारेगी। कुरान पढ़ोगे, तो गीता याद आएगी। गीता पढ़ोगे, तो कुरान याद आएगा। और तालमेल कुछ बैठेगा नहीं। क्योंकि ये सभी संगीत बड़े अलग— अलग हैं। ये वाद्य अलग—अलग हैं। इनका स्वर संयोजन अलग—अलग है।

तो तुम बिलकुल पगला जाओगे, विक्षिप्त होने लगोगे। तुम्हारा विश्वास भी खो जाएगा, अगर तुमने समझदार और पंडित की तरह इस महासंगम को देखा। लेकिन अगर तुमने सरल निर्दोष बालक की तरह देखा, तो तुम्हारी श्रद्धा अनंत गुनी हो जाएगी।

विश्वास झूठा है; उसकी सुरक्षा करनी पड़ती है। तुम्हें पता ही न चले कि दूसरे लोग क्या सोचते हैं, तभी विश्वास बचता है। श्रद्धा बड़ी और बात है। श्रद्धा को तो खुला आकाश चाहिए, तभी बचती है। अगर घर में बंद कर दो, सड़ जाती है, मर जाती है।

तो अभी तक दुनिया विश्वास में जीयी है। हिंदू घर में तुम पैदा हुए थे, हिंदू पर विश्वास किया था। जैन घर में पैदा हुए थे, जैन पर विश्वास किया था। न केवल इतना कि जैन पर विश्वास किया था, हिंदू पर अविश्वास भी किया था। क्योंकि ये दोनों साथ—साथ रहेंगे, विश्वास अपने पर, दूसरे पर अविश्वास। ऐसे बाहर और भीतर से अपने को सम्हाले रखा था।

लेकिन अब इस तरह का विश्वास नहीं टिक सकता। अब तो ऐसी परम श्रद्धा टिकेगी, जिसके लिए न तो अपने पर विश्वास की कोई जरूरत है, न दूसरे पर अविश्वास की कोई जरूरत है। अब तो ऐसी परम श्रद्धा जगत में बचेगी, जिसको खुला आकाश घबड़ाता नहीं, जिसके लिए बंद घरों की दीवारों की जरूरत नहीं है। तो विश्वास तो गिरेगा। इसलिए जो लोग विश्वास से ही अब तक धार्मिक रहे थे, अब उनके धार्मिक होने का कोई उपाय नहीं है। वे तो अधार्मिक हो जाएंगे। अब तो उन थोड़े से लोगों के जीवन में धर्म की हवा होगी, जिनके जीवन में श्रद्धा है।

लेकिन बस वही धर्म सच्चा है, जो खुले आकाश में बचता है। वही धर्म सच्चा है, जो विपरीत धारणाओं को भी सुनकर बच रहता है। वही धर्म सच्चा है, जो सभी तर्क के पार भी बच रहता है। विरोधी विरोध करता रहे, फिर भी तुम्हारी श्रद्धा डगमगाए न।

ऐसा नहीं कि तुम विरोधी को सुनते नहीं, कान में कंकड़ डाल लेते हो, कान बंद कर लेते हो। वह भी कोई श्रद्धा हुई, जो विरोधी को सुनने से डरती है! वह तो गहरे में संदेह है, इसीलिए भय है। संदेह के साथ भय है, श्रद्धा के साथ अभय है।

इसलिए तो मैं सभी शास्त्रों की तुम से बात कर रहा हूं। मेरे पास केवल वे ही लोग टिक सकेंगे, जिनके भीतर श्रद्धा का जन्म हो रहा है। विश्वासी तो भाग जाएंगे घबड़ाकर कि यह आदमी तो हमारा विश्वास छीन लेगा! वे तो दूसरों को भी कहेंगे, वहा मत जाना, वहां नास्तिक हो जाओगे।

उनका कहना भी ठीक है। कमजोर आएगा, नास्तिक हो जाएगा; शक्तिशाली आएगा, आस्तिक हो जाएगा।

मुझे जीसस का एक वचन बहुत प्रिय है। जीसस ने कहा है, जिनके पास है, उन्हें और दिया जाएगा; और जिनके पास नहीं है, उनसे वह भी छीन लिया जाएगा जो उनके पास है।

तुम्हारे भीतर अगर श्रद्धा है, तो मैं उसे बढ़ा दूंगा। और अगर नहीं है, तो और घटा दूंगा। कम से कम बात तो साफ हो जाए। यह बीच में आधी लटकी त्रिशंकु की स्थिति तो न रहे। या नास्तिक, या आस्तिक। यह बीच में अटका होना उचित नहीं है।

दूसरा प्रश्न : कल आपने कहा कि परमात्मा अनंत सूर्यों से भी अधिक ज्योतिपूर्ण है, इसलिए उसकी ज्योति को झेलना असंभव ई। लेकिन यह भी आप रोज कहते हैं कि मनुष्य परमात्मा का ही अंश है, फिर अंश अंशी को कैसे नहीं झेल पाता है?
जैसे कि बूंद पर सागर टूट पड़े, तो अगर बूंद मिटने को राजी हो, तभी झेल सकती है। अगर बचने की चेष्टा करे, तो फिर न झेल पाएगी। इस गणित को ठीक से समझ लो।

अगर तुम मिटने को राजी हो, तब तो तुम झेल लोगे परमात्मा को, फिर तो कोई डर ही न रहा। लेकिन अगर तुम बचना चाहते हो, तो फिर तुम परमात्मा को न झेल सकोगे। तब तुम मात्रा में झेलो।

गुरु मात्रा में है। धीरे—धीरे झेलो। गुरु तुम्हें धीरे— धीरे राजी करेगा। गुरु भी तुम्हें मिटाएगा, पर वह तुम्हारे पूरे भवन को एक साथ आया नहीं लगा देता। वह धीरे—धीरे एक—एक सहारा खींचता है। तुम्हारे बाकी सहारे बने रहते हैं। तुम कहते हो, कोई हर्जा नहीं, यह एक डंडा अलग कर रहा है, कर लेने दो, इतने में क्या बिगड़ेगा! पूरा मकान तो खड़ा है। पर एक—एक डंडा करके वह सब खींच लेता है। एक दिन तुम अचानक पाते हो, सारा भवन गिर गया। एक—एक ईंट खींचता है गुरु, इसलिए तुम सोचते हो, एक ईंट से क्या बिगड़ता है! ले जाने दो। तुम्हारी कृपणता में भी तुम सोचते हो, एक ईंट से क्या बिगड़ेगा। इतने कृपण तुम भी नहीं हो, एक ईंट तुम भी छोड़ देते हो। मगर तुम्हें पता नहीं कि सारा भवन एक—एक ईंट से बना है। एक ईंट खिंच गई कि गुरु आश्वस्त हो गया कि अब दूसरी भी खींच लेंगे। जब भी खींचेगा, एक ही खींचेगा। इसलिए अब पक्का है कि एक तो तुम खिंचने देते हो, इतने से काम चलेगा, थोड़ी देर लगेगी। और एक—एक ईंट खिंचते—खिंचते एक दिन तुम अचानक पाओगे, तुम्हारा भवन गिर गया।

परमात्मा मात्रा से नहीं खींचता। परमात्मा को आदमी होने का पता नहीं है, गुरु को पता है। परमात्मा अपने ढंग से चलता है; उसका ढंग बड़ा विराट है। उसे आदमी के छोटे—छोटे आंगनों का पता नहीं है, उसे तो बड़े आकाश का पता है। वह बाढ़ की तरह आता है। तुम अभी बूंद को झेलने को तैयार न थे, वह सागर की तरह आ जाता है; तुम घबड़ा उठते हो। वह भयंकर सागर की गर्जना और तुम भाग खड़े होते हो।

गुरु तुम्हें आहिस्ता—आहिस्ता थपकी दे—देकर मारता है। मारता वह भी है। क्योंकि तुम जब तक न मिटो, तब तक परमात्मा हो ही नहीं सकता। मिटना तो तुम्हें होगा। तुम्हारा होना ही बाधा है, इसलिए मिटना तो पड़ेगा। मिटने की

तैयारी तो सीखनी ही पड़ेगी। इसलिए मैं कहता हूं कि तुम परमात्मा हो। लेकिन जब तक तुम नहीं मिटे हो, इसका तुम्हें पता न चलेगा। जब तक तुम्हारी सीमा है, तब तक तुम परमात्मा हो, इसका तुम्हें पता न चलेगा। जब तुम्हारी सीमा खो जाएगी और तुम पाओगे कि तुम हो, पहले से भी ज्यादा, पहले से भी पूर्ण, तभी तुम पाओगे कि पहले तो तुम थे ही नहीं, अब पहली दफा हो। लेकिन वह तो मिटोगे तभी होगा।

वह तो बीज जब तक मिटेगा नहीं, तब तक अंकुर न हो पाएगा। और बीज कहता है, पहले भरोसा दिला दो। बीज कहता है, मैं बिना भरोसे के, जो हूं वह मिट जाऊं; फिर पता क्या कि मिटने के बाद जीवन की कोई नई श्रृंखला फूटेगी या नहीं!

अंडा टूटेगा, तब पक्षी बाहर आएगा। लेकिन पक्षी भीतर से ही कहता है, पहले मुझे भरोसा दिला दो। मेरी सुरक्षा है यह अंडा, इसके भीतर सुख—चैन है, यह टूट जाएगा, इसके टूटने पर मैं बचूंगा? मेरे घर के मिट जाने पर मैं बर्न?

तुम भी वही पूछते हो। यह अहंकार तुम्हारा खोल है, सुरक्षा है। इसके भीतर तुम बचे मालूम पड़ते हो। यह तुम्हारा अस्त्र—शस्त्र है, कवच है। और सारा धर्म कहता है, तोड़ो इस अहंकार को। तुम कहते हो, तोड़ तो दें, लेकिन फिर हम बचेंगे? इसके बिना तुम सोच भी नहीं सकते कि तुम कैसे बचोगे।

और कठिनाई यह है कि जब तक न टूटो, तब तक पता कैसे चले। और जब तक पता न चले, तब तक तुम टूटने को राजी कैसे होओ!

इसलिए परमात्मा तुम्हें न फुसला सकेगा। वह वृक्ष है, तुम बीज हो। गुरु बीज भी था, अब वृक्ष हुआ है। तुमने उसे बीज की तरह भी जाना; अभी भी तुम बीज की खोल उसके चारों तरफ टूट गई है, लेकिन लिपटी हुई पाओगे। अभी भी बीज की खोल पड़ी है, टूट गई है; अंकुर हो गया है....।

गुरु तुम्हें पहले कदम से मिलता है, परमात्मा तुम्हें अंतिम कदम पर मिलेगा। अंतिम कदम बड़ा दूर है। पहला कदम पास मालूम पड़ता है। गुरु में एक सातत्य बन सकता है। परमात्मा में कोई सातत्य नहीं बनता।

इसलिए मैं कहता हूं कि गुरु के द्वार से तुम्हारा परमात्मा से मिलन होगा। और कोई उपाय नहीं है। गुरु के द्वार से ही सदा मिलन हुआ है।

इसलिए नानक ने तो अपने मंदिर को गुरुद्वारा नाम दे दिया। गुरुद्वारा है, वह सिर्फ द्वार है, वह एक खुला द्वार है, जिससे प्रवेश होना है। जिससे बस प्रवेश होना है और जिसे भूल जाना है। गुरु को सदा याद नहीं रखना है। द्वार को कोई याद रखता है? प्रविष्ट हो जाता है, भूल जाता है। मगर जब तक प्रविष्ट नहीं हुए हो, तब तक द्वार की तलाश रहती है। गुरु खाली जगह है।

लेकिन बड़ी कठिनाई है गुरु के साथ भी। कठिनाइयां ऐसी हैं, तीन तरह के गुरु होते हैं। एक तो गुरु होता है, जिसको शास्त्रों ने सदगुरु कहा है। उसे तो पहचानना जरा कठिन होता है। उसे समझना भी थोड़ा कठिन होता है। वह थोड़ा बेबूझ होता है, अतर्क्य होता है। उसके पास, उसको समझने को तो बड़ा धीरज चाहिए। उसका व्यवहार भी, उसका बोलना, उसका कहना, उसकी जीवन—विधि, सभी तुम्हारे गणित से थोड़ी अलग होती है। होगी ही। क्योंकि तुमने जो गणित सोचा हुआ है, वह पुराने गुरुओं के आधार पर सोचा है। और कोई एक गुरु दूसरे गुरु जैसा नहीं होता। अगर तुमने महावीर से गणित सीखा है गुरु का, तो तुम मेरे पास आकर देखोगे कि यह आदमी तो नग्न नहीं है, इसलिए ज्ञानी नहीं हो सकता। और ऐसा आज हो रहा है, ऐसा नहीं। महावीर के समय में भी महावीर से जिसने गणित सीखा गुरु होने का कि गुरु क्या है, वह बुद्ध के पास गया, तो उसने कहा, बुद्ध गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि यह तो कपड़ा पहने हुए है। गुरु तो नग्न होता है।

बुद्ध के पास जिन्होंने गुरु होने का अर्थ सीखा, वे महावीर को देखकर समझे कि यह जरा जरूरत से ज्यादा है। यह दिखावा है। नग्न होने की क्या जरूरत है? नग्न रहने की जरूरत है, होने की थोडे ही जरूरत है।

उनका कहना भी ठीक है। अब यह बताने की क्या बात है! नग्न हो, यह पहचान लिया। अब कपड़े उतारकर बाजार में खड़े होना, यह तो जरा प्रदर्शन मालूम पड़ता है! गुरु प्रदर्शन थोड़े ही करता है। उनका कहना भी ठीक है। उनको महावीर गुरु न जंचे।

हिंदुओं को दोनों गुरु न जंचे। न महावीर, न बुद्ध। महावीर की तो हिंदुओं ने बात ही न की। महावीर की चर्चा ही न उठाई। चर्चा न उठाने का कारण था कि महावीर बिलकुल समझ में ही न आए। चर्चा भी उठाओ तभी, विरोध भी करो तभी, जब कुछ समझ में आता हो।

यह आदमी बिलकुल अतर्क्य मालूम पड़ा। बारह साल तो मौन रहा; नग्न घूमने लगा, महीनों उपवास करने लगा। इसका ढंग, शैली कुछ समझ में न आई। महावीर उकडूं बैठे थे, जब उनको समाधि हुई। उकडूं! जैसे कोई गौ को दोहता है, तब बैठता है, गौदोहासन में। कभी किसी को हुई थी ऐसी समाधि! लोग पालथी लगाकर समाधि के वक्त बैठते हैं। ये उकडूं काहे के लिए बैठे थे? कोई गौ का दूध लगा रहे थे? वह भी नहीं था। उकडूं बैठे थे। बडी हैरानी की बात है।

लेकिन अगर मनसविद से पूछो, शरीरशास्त्री से पूछो, तो इसमें थोड़ा राज मालूम पड़ता है। क्योंकि बच्चा मां के पेट में उकडूं होता है, उसके घुटने उसकी छाती से लगे होते हैं। वह गर्भ की अवस्था है। महावीर इतने सरल हो गए नग्न होकर, ऐसे निर्दोष हो गए, बचपन तो दूर छूट गया, गर्भ की अवस्था आ गई। जैसे छोटा बच्चा सिकुड़ा हुआ पड़ा हो, ऐसे वे उकडूं बैठे थे; जैसे यह सारा अस्तित्व गर्भ बन गया और महावीर उसमें लीन हो गए।

महावीर की सारी व्यवस्था पकड़ में न आ सकी। महावीर, को उपेक्षा कर दिया हिंदुओं ने, बात ही उठानी ठीक नहीं है। बात में से बात निकलेगी और यह आदमी कहीं भी पकड़ में नहीं आता।

बुद्ध की बात उठाई, क्योंकि बुद्ध की बात में उपनिषद के स्वर बिलकुल साफ थे। बुद्ध आधे हिंदू थे। महावीर बिलकुल हिंदू नहीं थे, ढंग में, जीवन—व्यवस्था में।

बुद्ध की बात उठाई; लेकिन बुद्ध को भी स्वीकार तो करना मुश्किल था, और अस्वीकार भी करना मुश्किल था। इसलिए आधा हिंदुओं ने स्वीकार किया, आधा अस्वीकार किया। दसवां अवतार स्वीकार किया बुद्ध को कि वे भी परमात्मा के अवतार हैं। लेकिन एक शर्त के साथ, कि वे गलत अवतार हैं; ठीक अवतार नहीं हैं। हैं तो अवतार परमात्मा के, लेकिन ठीक नहीं।

और एक कथा हिंदुओं ने गढ़ी, कि बनाया परमात्मा ने नरक और स्वर्ग। नरक कोई जाए ही न, क्योंकि कोई पाप ही न करे। लोग सरल थे, सभी स्वर्ग चले जाएं। तो जिनको नरक में बिठाया था प्रधान बनाकर, वे सब हाथ जोड़कर एक दिन खड़े हुए कि यह तो हम बेकार ही बैठे हैं। रजिस्टर खोले बैठे रहते हैं, कोई आता ही नहीं, खाली पड़ा है। यह काहे के लिए खोला है यह दफ्तर, बंद करो, या किसी को भेजो। उन पर दया करके परमात्मा ने बुद्ध अवतार लिया कि लोगों को भ्रष्ट करो, ताकि लोग नरक जा सकें। ऐसी हिंदुओं ने कहानी गढ़ी।

तो बुद्ध ने लोगों को भड्का दिया, भरमा दिया। हैं तो वे परमात्मा के अवतार, लेकिन नरक की जगह जो खाली पड़ी है, उसकी भरने के लिए पैदा हुए।

जैन कृष्ण को नहीं समझ सकते। कृष्ण को नरक में डाला हुआ है। जैन बुद्ध को नहीं समझ सकते। बुद्ध को जैनों ने भगवान कभी नहीं कहा; महात्मा कहते हैं ज्यादा से ज्यादा, अच्छी आत्मा है। लेकिन अभी बहुत दूर, भगवत्ता से बहुत दूर। बुद्ध को वे कभी भगवान नहीं कह सकते, महात्मा कहते हैं। और महात्मा से तुम आदर मत समझना; वह अनादर का शब्द है। क्योंकि महावीर को। भगवान कहते हैं, उनको वे महात्मा नहीं कहते।

तो बुद्ध को नीचे रखते हैं। बड़े होशियार लोग हैं; दुकानदार हैं। महात्मा कहने से कोई झगड़ा भी खड़ा नहीं होता, कोई कह भी नहीं सकता कि तुम कोई अनादर कर रहे हो, लेकिन वे अनादर कर रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि सिर्फ महात्मा ही हो; कोई भगवत्ता को उपलब्ध नहीं हो गए! अभी भगवान होना बड़ा दूर है।

लोग सीखते हैं एक गुरु से पाठ, फिर उस गुरु की शैली उनके मन में रम जाती है। फिर उसी शैली के आधार पर वे दूसरे गुरुओं की जांच करते फिरते हैं, अटकन हो जाती है। प्रत्येक गुरु अनूठा है, अद्वितीय है। उस जैसा न कभी हुआ है, न कभी होगा। इसलिए सदगुरु को पहचानना बहुत कठिन है। उसको तो वही पहचान सकता है, जो सभी नक्शे, सभी मापदंड नीचे गिरा दे और सीधा आख खोलकर देखे।

जैसे शास्त्र को वही पहचान सकता है, जो अज्ञानी की तरह। निर्दोष हो, वैसे ही सदगुरु को भी वही पहचान सकता है, जो निर्मल अज्ञानी है, सरल, खाली। सीधा देखता है, बीच में किसी को नहीं लेता, कि महावीर से सोचेंगे कि बुद्ध से कि कृष्ण से। किसी को बीच में नहीं लेता; आख में आख डालता है, सीधा हाथ में हाथ लेता है, साक्षात्कार करता है, तो सदगुरु की पहचान होती है।

मगर यह कठिन प्रक्रिया है। इसमें हिम्मत चाहिए, क्योंकि तुम्हें किसी दूसरे का सहारा नहीं मिलेगा। अकेले तुम ही जाओगे; अपनी किताब और गाइड और कुंजियां साथ न ले जा सकोगे। सब मापदंड छोड्कर जाओगे, भयभीत होने लगोगे; कई बार संदेह पकड़ेगा, संशय पकड़ेगा। सदगुरु के पास यह यात्रा तो करनी ही पड़ेगी।

सदगुरु की उपलब्धि कठिन है; मिल भी जाए, पहचान कठिन है। पहचान भी हो जाए, बहुत दफा छोड़ने का भाव पैदा होगा; बहुत दफा भाग जाना चाहोगे। लेकिन अगर टिके ही रहे, अगर हिम्मतवर रहे, अगर साहसी रहे, तो एक दिन उपलब्ध हो जाओगे। तब सदगुरु द्वार बन जाता है।

फिर दूसरे हैं, असदगुरु। असदगुरु से इतना ही मतलब है, जो द्वार हैं नहीं, लेकिन द्वार दिखाई पड़ते हैं। ये तुम्हें जल्दी से मिल जाएंगे। इनको तुम पहचान लोगे। क्योंकि ये बिलकुल तुम्हारी भाषा के भीतर आते हैं, ये तुम्हारे तर्क के नीचे पड़ते हैं; अतर्क्य नहीं हैं। ये तुम्हारे हिसाब से चलते हैं। तुम जैसा इनको चाहते हो, वैसा ही ये व्यवहार करते हैं। वस्तुतः ये तुम्हें अपना अनुयायी नहीं बनाएंगे, क्या बनाएंगे! ये तुम्हारे अनुयायी हैं।

तुम कहते हो, सिर घुटाए हुए होना चाहिए गुरु, तो वे सिर घुटाए बैठे हैं। तुम कहते हो, दाढ़ी बढ़ाए होना चाहिए, वे दाढ़ी बढ़ाए बैठे हैं। तुम कहते हो, नग्न होना चाहिए, वे नग्न बैठे हैं। तुम जो कहो, वे तुम्हारी आज्ञा पर हाजिर हैं। बस, तुम्हें ख्वाइश प्रकट करनी है। असदगुरु जड़ होता है, इस अर्थ में कि वह तुम्हारी आकांक्षा से अपने को ढालता है। वह तुम्हारी तरफ देखता है कि तुम कैसा चाहते हो। उसकी एकमात्र आकांक्षा यह है कि वह गुरु की भांति पूजा जाए, बस। तुम्हारी जो मांग हो, वह पूरी कर देगा। वह रेडीमेड गुरु है। वह तुम्हारी मांग के अनुसार तैयार हो जाता है।

सदगुरु तुम्हारी कोई मांग पूरी नहीं करेगा। वह सिर्फ अपने होने की मांग पूरी कर रहा है। तुम्हें जंचे, ठीक, तुम्हें न जंचे, ठीक। तुम प्रसन्न होओ, अच्छा; तुम अप्रसन्न होओ, अच्छा। तुम आओ तो ठीक, तुम चले जाओ तो ठीक। तुम्हारी भीड़ इकट्ठी हो जाए तो ठीक, सन्नाटा छा जाए, कोई भी न रहे, तो भी ठीक।

सदगुरु को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारा होना न होना अर्थ नहीं रखता। शिष्य की भीड़ का कोई भी मूल्य नहीं है। लाखों की भीड़ हो, तो भी ठीक है, इने—गिने लोग रह जाएं, तो भी ठीक है, सभी लोग चले जाएं, तो भी ठीक है। वह तुम्हारे आधार से नहीं

चलता, वह अपनी आत्मा की आवाज से चलता है। उसके साथ जिनकी चलने की हिम्मत हो, वे थोडे—से लोग चल पाएंगे। सदगुरु के साथ तो चुने हुए लोग होंगे।

जीसस के साथ मुश्किल से बारह आदमी चल सके। अब चल रहे हैं करोडों लोग, लेकिन अब उन्होंने अपनी कल्पना का जीसस पैदा कर लिया है, जो था ही नहीं। अब उन्होंने जो जीसस की धारणा बनाई है, वह झूठी है। जिंदा जीसस तो तोड़ देता उनकी धारणा, मरा जीसस क्या करे!

इसलिए सभी सदगुरु मरने के बाद धीरे— धीरे असदगुरु में परिणत हो जाते हैं—तुम्हारे कारण। अपने कारण नहीं, क्योंकि वे तो हैं ही नहीं। जिंदा में तो वे लडते रहते हैं तुमसे, तुम्हारी आकांक्षाओं को पूरा नहीं होने देते। लेकिन जब

मर जाते हैं, तब तो कुछ भी नहीं कर सकते। तुम उनके संबंध में किताबें लिखते हो, चित्र बनाते हो; तुम जैसा चाहते हो, उनको बना देते हो। फिर तो वे परवश हैं।

इसलिए मरे हुए गुरुओं की बड़ी पूजा चलती है, सदियों तक चलती है। जिंदा गुरु के साथ बडा भय लगता है। जीसस को जिन्होंने सूली दी, उन्होंने ही मर जाने के बाद पूजा शुरू कर दी। कृष्ण को सामने देखकर जो डर जाते, वे हजारों साल से उनकी गीता पढ़ रहे हैं और सिर झुका रहे हैं! अभी भी तुम्हें कृष्ण मिल जाएं रास्ते पर, तो तुम भयभीत होओगे। तुम कहोगे, गीता भली है। आप कैसे चले आए? गीता के साथ बिलकुल ठीक चल रहा है। जो अर्थ निकालना है निकाल लेते हैं, जो नहीं निकालना है नहीं निकालते हैं। तुम्हारी सुनता कौन है! हम अपने को गीता में खोज लेते हैं। आपकी कोई जरूरत नहीं है, गीता काफी है। आप विश्राम करें वैकुंठ में, हम गीता पढें यहां संसार में, बिलकुल सब ठीक चल रहा है। आप यहां न आएं।

तुम थोड़ा सोचो, कृष्ण को घर में ठहरा सकोगे? भरोसे का आदमी नहीं है; पत्नी को भगाकर ले जाए!

अभी कल ही मैं अखबार में पढ रहा था कि यू .पी. में एक मुकदमा था अदालत में। एक जमीन का टुकड़ा है, छः एकड़ जमीन का टुकड़ा है, वह राधा—कृष्ण के नाम है। अब एक झंझट खड़ी हो गई कि इतनी जमीन, छः एकड़ बस्ती के भीतर, एक आदमी के नाम रह सकती है कि नहीं। छः एकड़ बस्ती के भीतर, एक आदमी के नाम नहीं रह सकती।

तो वकीलों ने तरकीब निकाली और तरकीब सफल हो गई।

वकीलों ने कहा कि राधा कभी उनकी पत्नी तो थी नहीं, प्रेयसी थी। इसलिए दो व्यक्ति हैं ये। यह कोई परिवार नहीं है राधा—कृष्ण। इसलिए तीन — तीन एकड़ एक—एक के नाम है। तीन—तीन एकड़ रह सकती है। एक व्यक्ति के नाम पर पांच एकड़ तक रह सकती है; छः में झंझट थी।

बात हल हो गई। अदालत ने फैसला दे दिया कि यह बात बिलकुल ठीक है। यह स्त्री राधा कभी इनकी पत्नी तो थी नहीं; पत्नी तो रुक्मिणी थी। यह तो परकीया थी, किसी और की पत्नी रही होगी। कतई गई थी।

तुम कृष्ण को घर में सुविधा से न ठहरा सकोगे। और अगर कहीं राधा—कृष्ण दोनों ही आ गए, तब तो बिलकुल न ठहरा सकोगे। कि यह तो जरा ज्यादा हो जाएगा। घर में बच्चों को भी देखना है, बिगड़ जाएं। आप कहीं और ठहर जाएं।

मर जाते हैं सदगुरु, तो लोग अपने अनुकूल उनको बना लेते हैं, साज—संवार लेते हैं, हाथ—पैर काट देते हैं, छांटकर उनकी ठीक मूर्ति बना देते हैं, फिर पूजा सुविधा से चलती है।

फिर तुम्हारा संबंध ही नहीं है गुरु से। जब तक तुम सदगुरु को भी असदगुरु की स्थिति में न ले आओ, तब तक तुम पूजा नहीं कर सकते। क्योंकि सदगुरु की स्थिति में जाने के लिए तो बड़ी कठिनाई से तुम्हें गुजरना पड़ेगा, यह ज्यादा आसान है कि सदगुरु को ही अपनी स्थिति में ले आओ। उन्हीं को उतार लेना आसान है, खुद का चढ़ना मुश्किल है। जिंदा गुरु तो लड़ता रहेगा, तुम्हें चढ़ाने की कोशिश करता रहेगा।

ये दो तरह के गुरु तो ठीक समझ में आते हैं। एक तीसरे तरह के गुरु हैं, जो गोबर—गणेश हैं; जैसे गणेशपुरी के मुक्तानंद। जिनको न तुम सदगुरु कह सकते, न असदगुरु कह सकते। असदगुरु तो बिलकुल नहीं हैं; कुछ बुराई नहीं है। सदगुरु भी बिलकुल नहीं हैं; कुछ पाया भी नहीं है। पर गोबर—गणेशों की पूजा सबसे आसान है। क्योंकि तुमसे कोई किसी तरह के रूपांतरण की अपेक्षा ही नहीं है। ऐसा हुआ कि मैं नारगोल शिविर को जाता था। गणेशपुरी आश्रम के एक भक्त ने निमंत्रण दिया कि मैं एक आधा घड़ी वहां रुक जाऊं। मैंने भी सोचा कि चलो, मुक्तानंद को देखते चलें। वह देखना बड़ा महंगा पड़ गया। रुका आधा घडी को, मेरे साथ मेरी एक शिष्या थी। महंगा इसलिए पड़ गया कि निर्मला श्रीवास्तव मेरे साथ थी। मुक्तानंद से तो ज्यादा समझदार है। क्योंकि मुक्तानंद को देखकर उसने जो बात मुझे कही, वह यह कि यह आदमी तो बिलकुल गोबर—गणेश है। आप यहां उतरे ही क्यों?

लेकिन उसी दिन मैंने देखा कि उसके मन में एक बीज आ गया, कि जब मुक्तानंद गुरु हो सकते हैं, तो मैं क्यों नहीं हो सकती! यह आदमी तो बिलकुल गोबर—गणेश है। उसे उस दिन पता नहीं चला। लेकिन उस दिन मैं साफ—साफ देख सका कि उसके अंतर्भाव में एक नए अहंकार का जन्म हो गया कि जब मुक्तानंद जैसा आदमी, कुछ भी नहीं है जहां, यह जब गुरु हो सकता है, और सैकड़ों लोग इसकी पूजा कर सकते हैं, तो फिर मैं क्यों गुरु नहीं हो सकती! और यह तो मैं भी स्वीकार करता हूं कि अगर मुक्तानंद और निर्मला श्रीवास्तव में चुनना हो, तो निर्मला ज्यादा होशियार है। पर उसकी यात्रा अभी अधूरी थी। अभी शिष्यत्व के कदम ही उसने रखने शुरू किए थे और गुरु का भाव पैदा हो गया, जो कि होता है पैदा। इसलिए मैं कहता हूं वह मुक्तानंद के आश्रम में उस दिन घडीभर के लिए जाना महंगा पड़ गया, निर्मला की जिंदगी बिगड़ गई। उसे उस दिन पता भी नहीं चला, उसे आज भी शायद साफ नहीं होगा कि क्या हुआ। लेकिन यह बात देखकर कि जिस आदमी में कुछ भी नहीं है.।

मैंने उसे कहा भी नहीं कुछ कि कुछ भी नहीं है मुक्तानंद में। यह तो मैं आज कहता हूं। मैंने तो उसकी बात सुन ली। क्योंकि मैंने कहा, अगर मैं कुछ कहूंगा, तब तो और भी पक्का हो जाएगा इसको। मैंने कहा कि सब ठीक है; सब चलता है; लोगों को सब तरह के गुरुओं की जरूरत है। कुछ हैं, जिनको गोबर—गणेशों की जरूरत है, तो उनकी भी तो जरूरत पूरी होनी चाहिए। परमात्मा सभी का खयाल रखता है!

लेकिन उसका जीवन भ्रष्ट हो गया। जो उसने थोड़ा—सा पाया था, वह भी खो गया अहंकार में।

यह तीसरे गुरु से बचना बहुत जरूरी है। क्योंकि यह तुम्हें कहीं न ले जाएगा। सदगुरु कहीं पहुंचाता है, असदगुरु भटकाता है। और गोबर—गणेश केवल भरमाते हैं। भटकाते भी नहीं, भटकाएं तो भी चलो कुछ हुआ, कहीं तो ले गए! नरक भी ले गए, तो कुछ तो अनुभव होगा; पाप में उतारा, तो भी कुछ तो अनुभव होगा; गलत में ले गए, तो भी सही की तरफ आने के लिए कुछ तो रास्ता बनेगा। क्योंकि गलत का अनुभव भी सही की तरफ लाने के लिए कारण बन जाता है।

एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक एडीसन एक प्रयोग कर रहा था। वह ग्यारह सौ दफा असफल हो गया; तीन साल व्यतीत हो गए। उसके शिष्य सब घबड़ा गए। जो उसके कार्यकर्ता थे साथी, वे सब थक गए। लेकिन वह रोज सुबह चला आता है प्रसन्नचित्त, फिर प्रयोगशाला में लग जाता है, फिर आधी रात तक लगा रहता है। आखिर एक दिन उसके सहयोगी ने पूछा कि आप थकते ही नहीं! और आप उदास भी नहीं होते! और आप यह भी नहीं देखते कि ग्यारह सौ बार आप असफल हो चुके!

एडीसन ने कहा कि इससे तो मैं प्रसन्न हूं। कम से कम ग्यारह सौ गलतियां अब मैं न दोहराऊंगा। सत्य करीब आ रहा है। ग्यारह सौ रास्ते गलत सिद्ध हो गए; अब चुनने को बहुत थोडे ही बचे होंगे, किसी भी दिन ठीक रास्ता आ ही जाएगा हाथ में। मैंने खोया नहीं है इन ग्यारह सौ में कुछ, पाया ही है।

अगर मान लो दस रास्ते हैं, और नौ गलत हैं और एक सही है। तो नौ पर तुम भटके और लौट आए, तो दसवां करीब आ रहा है। हाथ में कुछ दिखाई नहीं पड़ता कि क्या पाया, लेकिन तुम कुछ पा रहे हो।

तो असदगुरु भी सदगुरु तक पहुंचाने का कारण हो जाए, लेकिन गोबर—गणेश भरमाते हैं। वे न तो भटकाते हैं, न पहुंचाते। तुम कोल्हू के बैल के चक्कर में पड जाते हो, घूमते रहते हो। उनमें इतना बुरा भी नहीं है कि उससे भी कुछ अनुभव ले लो; उनमें इतना कुछ अच्छा भी नहीं है कि जो तुम्हें उड़ा शिखरों पर ले जाए। उनमें कुछ भी नहीं है। वस्तुत: उनमें तुम जो भी देख रहे हो, वह तुम्हारा प्रोजेक्यान है।

सदगुरु में कुछ है, असदगुरु में भी कुछ है। कृष्णमूर्ति में भी कुछ है और रासपुतिन में भी कुछ है; ताकत है, शक्ति है। रासपुतिन भटकाएगा। अगर उसके चक्कर में पड़ गए, तो बुरे नरक में डाल देगा। लेकिन वह भी अनुभव होगा; वह भी शायद जरूरी था जीवन की प्रौढ़ता के लिए। शायद तुम अंधेरे में न गिरो, तो प्रकाश की अभीप्सा ही पैदा न हो। शायद आवश्यक था, अनिवार्य था।

लेकिन फिर गोबर—गणेश हैं, वे कुछ भी नहीं करते। उन पर तुम प्रोजेक्ट करते हो। तुम जो भी सोचते हो वे हैं, वह तुम्हारी धारणा है, वह तुम्हारी परिकल्पना है।

ऐसा हुआ, मेरे एक परिचित हैं, सीधे—सादे आदमी हैं। उनसे मैंने एक दिन कहा कि तुम्हें अगर गोबर—गणेश गुरु बनना हो, तो तुम बन सकते हो। तुम बिलकुल सीधे—सादे हो, जीवन में कुछ बुराई भी नहीं है, कुछ भलाई भी नहीं है। इधर—उधर का कुछ भी नहीं है, कोई अति नहीं है। न मांस खाते, न शराब पीते, न सिगरेट पीते। कुछ भी नहीं। न कोई चोरी की। उतनी भी हिम्मत नहीं है। न झूठ बोले कभी। सच को भी नहीं पा लिया है। झूठ भी नहीं बोले हो। तुम बिलकुल सज्जन आदमी हो, तुम गोबर—गणेश गुरु बन सकते हो।

उन्होंने कहा, क्या मतलब?

मेरे साथ यात्रा पर कलकत्ता जा रहे थे। तो मैंने कहा, तुम ऐसा करो, तुम सिर्फ चुप रहना; तुम बोलना भर नहीं कलकत्ते में। क्योंकि तुम बोले, तो पकड़े जाओगे। तुम बोलना भर नहीं। तुम चुप रहना। लोग मुझसे पूछेंगे, आप कौन हैं? मैं कहूंगा, आप बड़े गुरु हैं। बड़े पहुंचे ज्ञानी हैं। बोलते नहीं। मौन रहते हैं।

तीन दिन मेरे साथ रहे। हालत ऐसी आ गई कि लोग मेरे पैर पीछे छुए, पहले उनके छुए। तीन महीने रह जाते, तो लोग मुझे भूल ही जाते! लौटकर रास्ते में मुझसे कहने लगे, आपने ठीक कहा। और लोगों की कुंडलिनी जगने लगी उनके स्पर्श से। उनकी खुद नहीं जगी! मगर लोग मुझसे पूछने लगे कि ये बाबा तो बड़े चमत्कारी हैं। इन्होंने सिर पर हाथ रखा, हमारी कुंडलिनी जग गई। कल्पना, प्रक्षेपण, प्रोजेक्यान, तुम जो चाहते हो, वह होने लगा। किसी को रोशनी दिखने लगी। आदमी की कल्पना बड़ी प्रगाढ़ है!

तो पहले तो गोबर—गणेशों से बचना सर्वाधिक। अपने प्रक्षेपण, अपनी कल्पना, अपने सपनों को आरोपित करने से बचना।

सदगुरु कोई अनुभव नहीं देता, सदगुरु तो अनुभव छीनता है। वह तो तुम्हें उस जगह ले आता है, जहां सब अनुभव गिर जाते हैं। केवल तुम ही रह जाते हो, अत्यंत निर्दोष, अत्यंत निर्विकार।

अनुभव भी विकार है। कुंडलिनी जग रही है, प्रकाश दिखाई पड़ रहा है, कमल खिल रहे हैं, चक्र खुल रहे हैं—सब विकार हैं, सब रोग हैं। इनको तुम गुण मत समझ लेना, इन्हीं की वजह से गोबर—गणेश पुज रहे हैं। तुम पूज रहे हो, तुम ही प्रक्षेपण कर रहे हो। अनुभव भी तुम्हारा है, धारणा भी तुम्हारी है, घटना भी तुम्हें घट रही है, वहां कोई है ही नहीं। और जब एक दफा पता चल जाता है कि ऐसा हो रहा है..।

निर्मला को पता चल गया मुक्तानंद के आश्रम में कि ऐसा हो रहा है; फिर अब उसके द्वारा लोगों की कुंडलिनी जग रही है। वह समझ गई तरकीब कि यह तो गुरु होना बिलकुल आसान है। हाथ रख दो किसी के सर पर, कुंडलिनी जग गई, किसी को प्रकाश दिखाई पड़ गया। सौ पर रखो, पच्चीस को कुछ न कुछ हरकत होगी। वह जो हरकत हो रही है, वह उसके मन की है। उससे

रंग — देने का कोई संबंध नहीं है गुरु का।

सदगुरु द्दष्टे सारे अनुभवों से मुका करता है। असदगुरु तुम्हें विकृत अनुभवों में ले जाता है। गोबर—गणेश तुम्हें काल्पनिक अनुभवों में ले जाते हैं।

अगर तुम निर्दोष चित्त हो, तो तुम सदगुरु को खोज लोगे। लेकिन अगर तुम कल्पनाशील हो और तुम मुफ्त कुछ चाहते हो, तो तुम गोबर—गणेशों के चक्कर में फंस जाओगे, क्योंकि वहां मुफ्त मिलता है। छूते वे हैं, कुंडलिनी तुम्हारी जगती है! मुफ्त मिलता है।

और अगर तुम कुछ विकृत आकांक्षाएं रखते हो, कि हाथ से राख आ जाए, कि ताबीज निकल आए, कि गडी संपत्ति दिखाई पड़ने लगे, तो फिर तुम किसी असदगुरु के चक्कर में पड़ जाओगे। जब मैं ये तीन विभाजन कर रहा हूं तो किसी गुरु के विरोध में या पक्ष में कुछ नहीं कह रहा हूं। मैं तुमसे कह रहा हूं कि ये तीन तुम्हारे भीतर की संभावनाएं हैं।

अगर तुम गलत मांग चाहते हो, कि गड़ा हुआ खजाना दिख जाए, छूने से लोहा सोना हो जाए, तो तुम असदगुरु के चक्कर में पड़ जाओगे। अगर तुम मुफ्त अनुभव चाहते हो, बिना कुछ किए कुछ मिल जाए, किसी के आशीर्वाद से, किसी के प्रसाद से, तो तुम गोबर—गणेशों के चक्कर में पड़ जाओगे। अगर तुम कुछ भी नहीं चाहते हो सिवाय सत्य के, कुछ भी नहीं चाहते हो सिवाय परमात्मा के, कुछ भी नहीं चाहते हो केवल स्वयं की आत्मा के, स्वयं को जानना चाहते हो, तो ही तुम सदगुरु को खोज पा सकते हो।

तीसरा प्रश्न : अर्जन गीता का ज्ञान सनते—सनते परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया या उसके बाद से उसकी भक्ति—साधना या शिष्य—साधना का प्रारंभ हुआ? उसे भगवद्याप्ति कब और कैसे हुई?
अर्जुन सुनते—सुनते ही परम भाव को प्राप्त हो गया, उसे कुछ करना नहीं पड़ा। करना भी एक भांति है। कुछ करना पड़ेगा परमात्मा को पाने के लिए, यह भी अहंकार की ही अवधारणा है। परमात्मा मौजूद है, तुम्हें जागना है, कुछ करना नहीं है। कुछ करना है तो बस जागना ही करना है, और कुछ भी नहीं करना है।

आख खोलनी है; सामने खड़ा है परमात्मा। भीतर देखना है, भीतर मौजूद है। वृक्ष को छूना है; वही तुम्हारे हाथ में आ जाएगा। पशुओं की आंखों में झांकना है। हवाओं के गुंजन को सुनना है वृक्षों से निकलते हुए। उसकी ही गंज तुम्हें सुनाई पड़ जाएगी। असली सवाल उसे खोजना नहीं है, वह तो है। खो गए हो तुम। परमात्मा नहीं खो गया है।

मछली पूछती है, सागर कहां है! सागर में ही पैदा हुई है, सागर में ही लीन होगी। पूछती है, सागर कहां है! मछली सो गई है, होश से रिक्त हो गई है।

करने का सवाल नहीं है। अगर तुम सदगुरु को सुन लो, जो कि सबसे कठिन करना है। क्योंकि उस सुनने में ही तुम्हें अपने मन की सारी धारणाएं हटाकर रख देनी होंगी, उस सुनने में ही तुम्हें अपने मन के ऊपर छाए सारे विचारों के पत्ते अलग कर देने होंगे, ताकि नीचे की जल— धार प्रकट हो जाए। अगर तुम सदगुरु को सुन सको, तो सुनना ही ध्यान हो जाएगा। अगर तुम अपने को बीच में डालकर, सदगुरु जो तुमसे कहे, उसे विकृत न करो, तो उसकी हर चोट तुम्हें जगाने का कारण हो जाएगी।

अर्जुन जाग गया कृष्ण को सुनते —सुनते। इसलिए तो भारत में गीता के पाठ का इतना माहात्म्य हो गया। वह माहात्म्य इसलिए नहीं हो गया कि गीता में कुछ ऐसी बातें कही हैं, जो उपनिषदों में नहीं कही हैं; या गीता में कुछ ऐसी बातें कही हैं, जो वेद में नहीं हैं। नहीं, गीता में कुछ भी नया नहीं कहा है, वह सभी उपनिषदों का निचोड़ है। लेकिन यह खबर फैल गई भारत के चित्त में कि अर्जुन सुनते—सुनते ज्ञान को उपलब्ध हो गया। ऐसा दावा किसी उपनिषद का नहीं है कि किसी उपनिषद को सुनते—सुनते कोई ज्ञान को उपलब्ध हो गया हो।

लेकिन अर्जुन कृष्ण को सुनते—सुनते ज्ञान को उपलब्ध हो गया, यह बात फैल गई चेतना में। और तब से गीता का पाठ शुरू हुआ। लोग पाठ कर रहे हैं रोज कि शायद पाठ करते—करते ज्ञान को उपलब्ध हो जाएं।

हो सकते हैं, अगर पाठ हो। लेकिन पाठ कहां होता है! अगर तुम्हारा मन हट जाए और सिर्फ गीता ही गूंजती रह जाए, तुम्हारे अर्थ विलीन हो जाएं, सिर्फ गीता की ध्वनि ही तुम्हारे अंतर्तम में बजने लगे, तो घटना घट जाएगी।

सुनते—सुनते ज्ञान घटा है।

महावीर ने कहा है कि मेरे चार घाट हैं, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी। इन चार घाटों से मेरा तीर्थ है। इन चारों से लोग मोक्ष को जा सकते हैं।

यह बड़े मजे की बात है कि वे कहते हैं, श्रावक—श्राविका भी मेरे घाट हैं! श्रावक वह जो सुनने में समर्थ हो गया है, श्रवण में कुशल हो गया है। श्राविका वह स्त्री जो सुनने में योग्य हो गई है, जो हृदय से सुनने लगी है, जिसका मन बाधा नहीं देता।

मेरे देखे, जो श्रावक हो सकता है, उसे साधु होने की जरूरत ही नहीं, वह तो जो श्रावक नहीं हो सकता, उसकी मजबूरी है कि वह साधु हो। साधु का मतलब है, कुछ करना पड़ेगा। साधना पडेगा, साधु का मतलब है। श्रावक का मतलब है, सुनना काफी है, सत्य का वचन सुनना काफी है, करने को कुछ भी नहीं है फिर। सब होना वैसे ही हो जाता है, सुनते ही हो जाता है।

कृष्णमूर्ति निरंतर इस पर जोर दे रहे हैं। वे यही कह रहे हैं कि न ध्यान की जरूरत, न साधना की जरूरत। मैं क्या कह रहा हूं? इसे सुन लो। राइट लिसनिंग, ठीक—ठीक सुन लो। सम्यक श्रवण पर वे बहुत ज्यादा आग्रह कर रहे हैं। उनके सुनने वाले भी, जो चालीस—चालीस साल से सुनते हैं, वे भी उनसे पूछते हैं कि वह तो हम समझ गए; करें क्या?

कृष्णमूर्ति खीझने तक लगे हैं, चिड़चिड़ा जाते हैं। चालीस साल काफी होता है, पूरी जिंदगी गवाई इन्हीं नासमझों के साथ समझा—समझांकर कि सिर्फ सुन लो। और वे फिर भी कहते हैं, करें क्या? कृष्णमूर्ति कहते हैं, कुछ न करो! वे पूछते हैं, कैसे करें? यह कुछ न करो, कैसे करें? यही तो नहीं हो रहा है!

कृष्णमूर्ति सिर्फ श्रावक के ही घाट से लोगों का तीर्थ बनाना चाहते हैं। महावीर ज्यादा समझदार हैं। उन्होंने कहा, तीर्थ मैं चार बनाता हूं श्रावक— श्राविका के दो, साधु—साध्वी के दो। जानकर उन्होंने, क्योंकि कुछ लोग हैं, जो बिना किए मानेंगे ही नहीं। हालाकि करने में कोई मतलब नहीं है। जब जागेंगे, तब पाएंगे कि न भी किया होता तो भी हो जाता, लेकिन दौड— धूप करनी बदी थी, उछलकूद करनी जरूरी थी; वह बिना किए उनसे नहीं हो सकता था।

वह ऐसा है कि तुम्हारे सारे संसार का अनुभव करने का अनुभव है। तुमने सब किया है। जब भी किया है, तभी कुछ पाया है। जब नहीं किया है, तो खोया है। कर—करके भी खो देते हो, तो बिना किए तो पाने का सवाल ही नहीं है। संसार का पूरा सार अनुभव यह है कि करके मिल जाए, तो भी बहुत है। न करके तो कैसे मिलेगा!

इसी अनुभव को लेकर तुम मुझे भी सुनने आए हो, कृष्णमूर्ति को सुनने जाओगे, महावीर को सुनोगे, कृष्ण को सुनोगे, तो गडबड़ होगी।

अर्जुन की भाव—दशा बडी अलग थी। अर्जुन ने करके देख लिया। और करने की आखिरी घड़ी आ गई इस कुरुक्षेत्र के मैदान में, युद्ध आ गया। करने का आखिरी परिणाम यह महाहिंसा आ गई। सब करके देख लिया, अब यह महामृत्यु हाथ में आ रही है। यह बड़ी प्रतीकात्मक बात है।

तुम कर—करके एक दिन पाओगे, मृत्यु हाथ में आती है, कुछ हाथ में नहीं आता। न करने से मिलता है जीवन, करने से मिलती है मृत्यु। न करने से मिलती है शांति, करने से मिलता है युद्ध।

यह अर्जुन कर—करके युद्ध की घड़ी में आ गया। सारा परिवार युद्ध में फंस गया। मित्र, प्रियजन सब खड़े हैं। मौत सब की गर्दन पर बंधी है। यह अर्जुन यह देखकर निष्पत्ति अपने सारे उपायों की अब तक, भयभीत हो गया। उसने कृष्ण को कहा कि मेरे हाथ ढीले हुए जाते हैं, गांडीव शिथिल हो गया है। मैं लड़ न सकूंगा। इसका सार क्या है? इनको मारकर अगर मैंने राज्य भी पा लिया, तो क्या पा लूंगा? जीवनभर रोऊंगा, पीड़ित होऊंगा। इतनो को मिटाकर सिंहासन पाया, तो वह सिंहासन ऐसा रक्त—रंजित हो जाएगा, उससे ऐसी दुर्गंध आएगी, कि मैं उस पर बैठ भी न सकूंगा। वह सोने का सिंहासन मरघट मालूम पड़ेगा। नहीं, मुझे इससे बचाओ। यह कर—करके मैं यहां आ गया। और अब यह करने की आखिरी निष्पत्ति है कि ये गर्दनें, ये जीते हुए लोग, ये सब मेरे प्रियजन हैं, उस तरफ, इस तरफ।

यह गृहयुद्ध था, इसमें सब बंट गए थे। एक भाई इस तरफ था, दूसरा भाई उस तरफ था। गुरु उस तरफ खड़े थे, जिनके चरणों में बैठकर अर्जुन ने सब सीखा। उन्हीं की गर्दन को काटना पड़ेगा! उन्हीं से सीखा सब, यह धनुर्विद्या उन्हीं का दान है। और आज उन्हीं की छाती बेधनी पड़ेगी! या जिस शिष्य को उन्होंने बड़ा किया और जिस शिष्य को इतना चाहा, इतना चाहा कि जिस पर सब उंडेल दिया, उसी शिष्य को आज इस बुढ़ापे में गुरु को मारना पडेगा! कि अपने बेटे की तरह जिसे बड़ा किया, सब दिया, आज उसकी गर्दन अपने हाथ से काटनी पडेगी! यह सब बडी बेहूदी बात हो गई है।

भीष्म उस तरफ खडे हैं। जिनके प्रति अर्जुन के मन में बड़ी अगाध, प्रगाढ श्रद्धा है, जो उस कुल का गौरव हैं। इस भीष्म पितामह को, इस के को मारना पड़ेगा? नहीं, यह बात जंचती नहीं।

यह तो करने की बड़ी दुर्गति हो गई। यह कृत्य तो महाविभीषक हैं। गया।

यह करने की निष्पत्ति है। इसे थोड़ा समझो। करने के पीछे सदा ;'।हंकार है। अहंकार सदा युद्ध में ले आता है। अहंकार यानी कलह; अहंकार संघर्ष है। और सभी अहंकार अंततः कुरुक्षेत्र में पहुंच जाते हैं। इसलिए अर्जुन के मन में बड़ी बिगचना है, बड़ी विडंबना है, बड़ी चिंता, ऊहापोह है। उसके हाथ निश्चित कैप गए होंगे। वह श्रेष्ठतम व्यक्ति था वहां। किसी और के न कंपे।

अब यह थोड़ा समझने जैसा है, क्योंकि महाभारत की कथा बड़ी अनूठी है। वहां युधिष्ठिर थे, जिन्हें धर्मराज कहा जाता है। उनके कंपने थे हाथ! उनके नहीं कंपे। कोई पूछता नहीं कि यह कैसा अन्याय हो रहा है! युधिष्ठिर धर्मराज थे, उनके हाथ कंपने थे, उनका गांडीव गिरना था, उनके गात शिथिल हो जाते। वे कृष्ण के पैर पकड़ लेते और कहते कि मैं छोड़ता हूं; संन्यास लेता हूं। लेकिन नहीं, यह नहीं हुआ। कारण है।

महाभारत सूचक है। वह यह कह रहा है, युधिष्ठिर धर्मराज थे, एक महापंडित की तरह। धर्म उनके जीवन की जिज्ञासा न थी, ऊपर का आचरण था। शास्त्र अनुकूल चलने की परंपरा थी, इसलिए चले थे। लेकिन कोई जीवन की क्रांति न थी। धर्मराज थे, फिर भी जुआ खेल सकते थे, पत्नी को दांव पर लगा सकते थे। पंडित थे, ज्ञानी नहीं थे। धर्म क्या कहता है, यह सब जानते थे, लेकिन यह धर्म की उदभावना अपने ही प्राणों से न हुई थी। सज्जन थे, धार्मिक न थे। इसलिए उनको कोई अड़चन न हुई।

पंडित लड़ सकता है। उसको कोई अड़चन नहीं है। पंडित कभी धर्म को जीवन का हिस्सा नहीं मानता, बुद्धि का हिस्सा मानता है। अगर किसी को शास्त्र के संबंध में कोई अड़चन होती, तो युधिष्ठिर हल कर देते। लेकिन जीवन की अड़चन तो वे खुद ही हल नहीं कर सकते थे। वह प्रश्न भी उन्हें न उठा।

प्रश्न उठा अर्जुन को, जिसको धार्मिक कहने का कोई भी कारण नहीं है। न तो वह कोई धर्मज्ञाता था, न कोई धर्मराज था। जीवनभर युद्ध ही किया था, एक शुद्ध क्षत्रिय था, अहंकारी था, अहंकार को प्रखर त्वरा में जाना था, वही उसकी जीवन—सिद्धि थी। इसको कठिनाई आ गई!

अहंकार को जिसने जीया है, एक न एक दिन कठिनाई उसे आ जाएगी। एक दिन वह पाएगा कि अहंकार तो बड़ी दुर्गति में ले आया।

तो इसके हाथ शिथिल हो गए हैं। यह कहता है, अब मैं यह करना छोड्कर भाग जाना चाहता हूं। इसका करना असफल हो गया है। इसलिए न करने की बात इसको समझ में आ सकी। यह कर—करके देख लिया, फल कुछ पाया नहीं, फल यह है कि युद्ध हो रहा है। बोए थे बीज आशा में कि मधुर फल लगेंगे। हिंसा लगी, जहरीले फल आ गए। अगर ये ही फल हैं कृत्य के, तो अर्जुन कहता है, छोड़ता हूं सब, मैं संन्यस्त हो जाता हूं। मैं जाता हूं? मैं भाग जाता हूं। इसी से उसकी गढ़ जिज्ञासा उठी।

इसलिए मैं निरंतर कहता हुं, जिनके अहंकार परिपक्क नहीं हैं, वे समर्पण नहीं कर सकते। अहंकार चाहिए पहले पका हुआ, तभी समर्पण हो सकता है। कच्चा, अनपका, अधूरा अहंकार है, कैसे समर्पण करोगे! कर भी दोगे, तो हो न पाएगा; अधूरा रहेगा। अनुभव ही न हुआ था।

यह अर्जुन पक गया था। क्षत्रिय यानी अहंकार। और फिर क्षत्रियों में अर्जुन, अहंकार का गौरीशंकर। वह कहता है, मुझे जाने दो। कृष्ण ने इसलिए उसे जो संदेश दिया, वह बडा अनूठा है। वह कह रहा है कि मुझे जाने दो, मैं छोड़ दूं सब। लेकिन कृष्ण जानते हैं, वह इतना गहरा क्षत्रिय है अर्जुन कि यह छोड़ना भी कृत्य ही है, यह भी कर्म है, त्याग भी कर्म है। वह कहता है, मैं छोड़ दूं। मैं अभी भी बचा है। लडूंगा तो मैं, छोडूंगा तो मैं। युद्ध बेकार हुआ, इसलिए मैं त्याग करता हूं। लेकिन मैं त्याग के भीतर भी बचेगा। कृष्ण जानते हैं, यह जंगल भागकर संन्यासी हो जाएगा, तो भी अहंकार से बैठा रहेगा अड़ा हुआ। यह संन्यासी हो नहीं सकता। यह इतना आसान नहीं है।

संन्यास बड़ी गढ़ घटना है, आसान नहीं है, बड़ी नाजुक है, तलवार की धार पर चलना है। इतना सरल होता कि भाग गए, संन्यासी हो गए, 'तब तो संन्यास में और संसार में बस जरा—सी दौड़ का ही नाता है, कि छोड़ दी दुकान, भाग गए; मंदिर में बैठ गए, संन्यासी हो गए। तो यह तो ऐसा हुआ कि जैसे संसार बाहर है, भीतर नहीं है।

संसार भीतर है और अर्जुन की दृष्टि में है। इसलिए कृष्ण ने कहा कि ऐसे छोड़ने से कुछ न होगा, असली छोड़ना तो वह है कि तू कर भी और जान कि नहीं करता है। ऐसे कर कि कर्ता का भाव पैदा न हो, वही संन्यास है। तू परमात्मा को करने दे, तू बीच से हट जा। अगर तू सच में ही समझ गया है कि करने का फल दुखद है, कर्ता का भाव पीड़ा लाता है, हिंसा लाता है, अगर तू ठीक से समझ गया, तो अब यह संन्यास की बात मत उठा। क्योंकि तब संन्यास भी तेरे लिए करना ही होगा, तब तू संन्यासी हो जा, कर मत। यही फर्क है। कोशिश मत कर, हो जा। चेष्टा मत कर, बस हो जा।

अर्जुन यही पूछता है कि यह कैसे होगा! यह कैसे होगा! संदेह उठाता है। और कृष्ण समझाए चले जाते हैं। इस समझाने में ही अर्जुन की पर्त—पर्त टूटती चली जाती है। एक—एक पाया कृष्ण खींचते जाते हैं। आखिरी घड़ी आती है, जहां अर्जुन कहता है, मेरे सारे संदेह गिर गए; मैं नि:संशय हुआ हूं; तुमने मुझे जगा दिया। फिर वह युद्ध करता है; फिर वह भागता नहीं। फिर भागना कहां!

फिर भागना किससे! फिर वह परमात्मा के चरणों में अपने को छोड़ देता है, वह निमित्त हो जाता है। वह कहता है, अब तुम जो करवाओ। लडवाओ, लडूंगा। भगाओ, भाग्ता। अपनी तरफ से कुछ न करूंगा। अपने को हटा लेता है।

यह जो अकर्ता भाव से किया हुआ कर्म है, यही मुक्ति है। ऐसे कर्म की रेखा किसी पर छूटती नहीं, कोई बंधन नहीं बनता। करते हुए मुक्त हो जाता है व्यक्ति। गुजरी नदी से, और पैर पानी को नहीं छूते। बाजार में खड़े रहो, और बाजार का धुआ तुम्हें स्पर्श भी नहीं करता।

अब सूत्र:
और हे अर्जुन, जो पुरुष अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्म से आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्वगुण से युक्त हुआ पुरुष संशयरहित मेधावी अर्थात ज्ञानवान और त्यागी है।

जो अकल्याणकारक कर्म से द्वेष नहीं करता और कल्याणकारक कर्म की कामना नहीं करता है......।

क्योंकि जब तक तुम कहोगे, यह न हो और यह हो, ऐसा न हो और ऐसा हो; रात न हो, दिन हो, दुख न हो, सुख हो; मृत्यु न हो, जीवन हो, जब तक तुम चुनोगे, तब तक अहंकार बना रहेगा। चुनाव अहंकार है। चुनावरहित हो जाना, च्वाइसलेस हो जाना, निरहंकारिता है।

तो कृष्ण कहते हैं, इसकी तू फिक्र ही मत कर कि क्या अकल्याणकारक है। छोड़ उसी पर। वही जानता होगा। जो पूरे को जानता है, वही जानता होगा। तू छोड़ दे उसी पर। और न तू कल्याण की कामना कर, कि जो ठीक है, वह मैं

करूं। तू बिलकुल छोड़ दे। तू बीच से हट जा। तू अपने हाथ उसके हाथ बन जाने दे। अपनी आंखें उसकी आंखें बन जाने दे। तेरे हृदय में तू मत धड़क, उसे धड़कने दे।

और यह महाभाव घटता है। ऐसा महाभाव जब घटता है, तभी हम कहते हैं, कोई व्यक्ति भगवत्ता को उपलब्ध हो गया। तब वह कोई चुनाव नहीं करता, तब उसका होना सरल है। जैसे नदी बहती है सागर की तरफ, ऐसा ही वह भी बहता है। उसके होने में फिर कोई कृत्य नहीं रह जाता। कर्म तो बहुत होते हैं, कर्ता नहीं रह जाता, करने का भाव नहीं रह जाता।

जो कल्याणकारक कर्म में आसक्त नहीं, अकल्याणकारक कर्म से द्वेष नहीं करता, वही संशयरहित होकर मेधा को, त्याग को उपलब्ध होता है।

त्याग, कर्ता का त्याग है, त्याग, अहंकार का त्याग है। तुमने अगर त्याग भी किया और अहंकार बच गया, तो त्याग झूठा हो गया, व्यर्थ हो गया। इस ढंग से करना त्याग कि अहंकार न बच पाए। बस, यही कला है, सारे धर्म की कला इतनी है। इस भांति छोड़ना कि छोडने वाला निर्मित न हो जाए। छोड़ना जरूर, छोड़ने वाले को मत बनने देना।

यह कैसे करोगे? इसका एक ही उपाय है कि तुम अपने को परमात्मा के हाथ में छोड़ दो। वह बुरा कराए तो बुरा, भला कराए तो भला। वह नाटक में तुम्हें रावण बना दे, तो रावण; वह राम बना दे, तो राम। तुम यह मत कहना कि हम रावण का पार्ट न करेंगे। तुम तो कहना कि तुम डायरेक्टर हो, तुम जो पात्र दे दोगे, हम वही करेंगे। हमारा कुल काम इतना है, जो तुम दे दोगे, हम उसे पूरी तरह करेंगे। वह रावण बना दे, तो रावण, वह राम बना दे, तो राम। वह राजा बना दे, तो राजा, वह रंक बना दे, तो रंक। जो उसकी मर्जी।

उसकी मर्जी से भिन्न जरा भी न सोचने का नाम संन्यास है।

क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा संपूर्णता से सब कर्म त्यागे जाना शक्य भी नहीं है, इससे जो पुरुष कर्मों के फल का त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसा कहा जाता है।

तुम सारे कर्म तो छोड़ ही नहीं सकते। छोड़ना भी कर्म है। आख बंद करोगे, वह भी कर्म है। भोजन करोगे, वह भी कर्म है। श्वास लोगे, वह भी कर्म है। जंगल जाओगे, वह भी कर्म है। सोओगे, सुबह उठोगे, भूख लगेगी, भिक्षा मांगोगे, वह भी कर्म है।

कर्म से भागोगे कैसे? राजा का कर्म अलग है, भिखारी का कर्म अलग है, लेकिन दोनों कर्म हैं। अलग कितने ही हों, उनका कर्म होना तो समान ही है।

तो कृष्ण कहते हैं, यह शक्य भी नहीं है कि कोई सारे कर्मों को छोड़ दे।

फिर शक्य क्या है? शक्य इतना ही है कि फलाकांक्षा छोड़ दे; आकांक्षा न रखे। जब तुमने सारे कर्म उस पर छोड़ दिए, तो फल की आकांक्षा अपने आप छूट जाती है। इस कीमिया को ठीक से समझ लेना।

जब तक तुमने अपने हाथ में कर्मों का चुनाव रखा है, तब तक फल की आकांक्षा नहीं छूटेगी। तब तुम सफल होना चाहोगे, असफल न हो जाओ, यह भय पकड़ेगा। लेकिन जब तुमने सभी उस पर छोड़ दिया, तो वही असफल होता है, वही सफल होता है। उसको असफल होने का मजा लेना हो, ले, उसको सफल होने का मजा लेना हो, ले। तुम सिर्फ निमित्त हो जाते हो।

निमित्त शब्द बड़ा प्यारा है। इसे तुम कुंजी की तरह याद रखो, निमित्त। जैसे खूंटी है, तुम आए, कोट टांग दिया, तो खूंटी यह नहीं कहती कि कोट न टंगने देंगे। तुम आए, कमीज टांग दी, तो खूंटी यह नहीं कहती कि कमीज नहीं टंगने देंगे। कल कोट टांगा था आज भी कोट टांगो। तुमने कोट टांगा, आज रुपए हैं, कल रुपए नहीं हैं। खूंटी यह नहीं

कहती कि देखो, बिना रुपए के कोट मत टांगो, इससे मन में बड़ा विषाद होता है। और इससे चित्त में बड़ी ग्लानि और पराजय का भाव पैदा होता है। और एक दिन तुम खूंटी पर कुछ भी नहीं टांगते, तो खूंटी यह नहीं कहती कि बिलकुल नंगा, भिखमंगा छोड़ दिया, कुछ तो टांगो।

खूंटी निमित्त मात्र है, जो भी टांगो, टंग जाता है। ऐसे तुम खूंटी की तरह हो जाओ। परमात्मा जो टांगे, टैग जाने दो, तब फिर फल की कोई आकांक्षा नहीं है। किसी दिन न भी टांगे, तो भी मौज है। तथा सकामी पुरुषों के कर्म का ही अच्छा, बुरा और मिश्रित, ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात भी होता है।

और वह जो व्यक्ति आकांक्षा नहीं छोड़ता फल की, वह जो भी करता है, इतनी कामना से भरकर करता है, इतने द्वेष और लोभ से भरकर करता है कि लोभ और द्वेष की लकीरें उसके चित्त पर छूटती हैं, गहरी होती हैं, बनती हैं, सघन होती हैं। और इस जीवन के बाद भी उसके साथ जाती हैं।

जो व्यक्ति कामना से भरकर कर्म करता है, अहंकार से भरकर कृत्य करता है, कर्ता को बचाता है, उसके ऊपर लकीरें ऐसे खिंच जाती हैं कर्म की, जैसे किसी ने पत्थर पर खींच दी हों। वह फिर उसका जीवन उन लकीरों से घिरा हुआ चलता है। इसको ही हमने कर्म का सिद्धांत कहा है।

जो व्यक्ति सब कुछ उस पर छोड़ देता है, सब कुछ अस्तित्व पर छोड देता है, उस पर भी लकीरें खिंचती हैं, लेकिन वे ऐसे खिंचती हैं, जैसे पानी पर खिंची लकीरें, खिंच भी नहीं पाती कि मिट जाती हैं। करता बहुत है वह, लेकिन कुछ पीछे लकीर नहीं छूटती। वह निर्मल विदा होता है।

कबीर ने कहा है, ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया, खूब जतन से ओढी कबीरा।

जतन से ओढी कबीरा! बड़ी जतन से, बड़े होशपूर्वक ओढी कि कोई दाग न लग जाए। और जैसी की तैसी उसे वापस लौटा दी। ऐसा व्यक्ति जो फल की आकांक्षा छोड़ देता है, कर्ता का भाव छोड़ देता है.....।

बस, यही जतन है।

और मैं तो तुमसे कहता हूं कि फिर तो जतन की भी जरूरत नहीं है; फिर तो दिल खोलकर ओढो। और जैसी भी तुम लौटाओगे, वह चांदर निर्मल ही होगी।

मैं फिर से दोहरा दूर शायद तुम्हें समझ में न आए। क्योंकि खूब जतन से ओढने में भी थोड़ी साधना आ जाती है। जतन क्या! अगर तुम सब उस पर छोड़ दो, तो जतन की भी जरूरत नहीं, फिर दिल खोलकर ओढ़ो। और जितनी करवटें लेनी हों चदरिया में, लो। जब तुम लौटाओगे, चदरिया निर्मल ही होगी। क्योंकि चदरिया कृत्यों से मैली नहीं होती, कर्ता से मैली होती है। इसलिए जतन एक ही रखना कि कर्ता न बने। चदरिया दिल खोलकर ओढो।

संसार में जीयो, जैसे जीना हो। संसार एक बड़ा अभिनय का मंच है। उसको तुम सच मत समझो, सपना समझो। एक अभिनय है, पूरा करो। बस, अभिनेता की तरह दूर—दूर रहो, पार—पार रहो, अतिक्रमण करते रहो। करते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई अकर्ता बना रहे। चलते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई चले न। भोजन करते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई उपवासा रहे। भोग करते हुए भी तुम्हारे भीतर कोई संन्यस्त रहे।

इसलिए कृष्ण ने जगत को जो संन्यास दिया है, वह सबसे ज्यादा बारीक और महीन है।

ऐसे पुरुष को किसी भी काल में कर्मों का कोई भी बंधन नहीं होता।

फिर परमात्मा ही बंधे और वही मुक्त हो। तुम तो हट ही गए। इससे ज्यादा सरल कोई साधना नहीं है। इससे ज्यादा कठिन भी कोई साधना नहीं है। सरल इसलिए नहीं है कि इसमें कुछ भी करना नहीं है, सिर्फ करने का भाव छोड़

देना है। कठिन इसलिए कि इसमें कुछ भी करने को नहीं है; तुम्हारा मन बड़ी मुश्किल पाएगा। कुछ करने को होता, तो कर लेते। अब इसमें कुछ करने को ही नहीं है, तो तुम एकदम अधर में पाओगे; शून्य में भटके पाओगे। लेकिन अगर सुनो, गौर से सुनो, तो सुनने से ही सत्य उपलब्ध हो जाता है। मैं तुमसे कहता हूं कि अगर तुम मुझे सुन रहे हो, ठीक से सुन रहे हो, सम्यकरूपेण सुन रहे हो, तो तुम्हें कुछ भी करने की जरूरत न रह जाएगी। अगर करने की जरूरत रह जाए, तो समझना कि ठीक से सुना नहीं, सुनना चूक गया। फिर से गौर से सुनना। इसलिए मैं रोज बोले चला जाता हूं। कभी तो सुनोगे!

प्रवचन 16. महासूत्र साक्षी

सूत्र—

यज्ञैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।। 13 ।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथश्विधम्।
विविधाश्च यृथक्चैष्टा दैवं चैवात्र यञ्चयम्।। 14 ।।
शरीरवाक्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याटयं वा विपरीतिं वा पज्जैते तस्य हेतवः ।। 15 ।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु वः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मलः ।। 16 ।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स हमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। 17 ।।

और हे महाबाहो, संपूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए ये पांच हेतु सांख्य सिद्धांत में कहे गए है, उनको तू मेरे से भली प्रकार जान।

हे अर्जुन, हस विषय में आधार और कर्ता तथा न्यारे— न्यारे करण और नाना प्रकार की न्यारी— न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पांचवां हेतु दैव कहा गया है।

मनुष्य मनु वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरंभ करता है, उसके ये पांचों ही कारण हैं।

परंतु ऐसा होने पर भी जो पुरूष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता है।

और हे अर्जुन, जिस पुरुष के अंतःकरण में मैं कर्ता हूं ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और संपूर्ण कर्मों में लिपायमान नहीं होती? वह पुरूष इन सब लोगों को मारकर भीं वास्तव में न तो मारता है और न पाय से बंधता है।

पहले कुछ प्रश्न।
पहला प्रश्न : आपको वर्षों से रोज—रोज सुनते रहने से निर्विचार बढ़ा है, मौन गहन हुआ है, प्रेम अंकुरित हुआ है, अहोभाव की भी कुछ बूंदा—बांदी होती है। परंतु अनेक अवसरों पर लगता है कि बुद्धि और अहंकार की धार भी तेज और सूक्ष्म होती गई है। उपरोक्त दोनों बातों के साथ—साथ घटने से आश्चर्य भी होता है और चिंता भी। इस स्थिति पर प्रकाश डालें। क्या साधक को ऐसा हो सकता है?
जीवन के प्रत्येक आयाम में विपरीत साथ—साथ ही बढ़ते हैं। जन्म के साथ चलती है मृत्यु। हर जन्मदिन, मृत्यु का भी नया चरण है। श्रम के साथ—साथ चलती है थकान, विश्राम की आकांक्षा। प्रेम के साथ—साथ छाया की तरह लगी रहती है घृणा।

विपरीत जुड़े हैं। जितना ऊंचा होगा पर्वत—शिखर, उतनी ही गहरी होगी खाई। पर्वत—शिखर और ऊंचा होने लगेगा, खाई और गहरी होने लगेगी। पर्वत—शिखर की ऊंचाई और खाई की गहराई, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जितने—जितने तुम समझदार होने लगोगे, उतनी—उतनी तुम्हें अपने भीतर नासमझी दिखाई पड़ने लगेगी। ज्ञान के साथ—साथ अज्ञान का बोध होता है।

जैसे—जैसे तुम शांत होओगे, वैसे—वैसे तुम्हारे अशांत होने की क्षमता में भी बढ़ती होगी। क्योंकि जितने तुम शांत होओगे, उतने संवेदनशील हो जाओगे, उतने सेंसिटिव हो जाओगे। उस संवेदना में छोटी—सी घटना भी बडा गहरा तहलका मचा देगी।

जितने तुम स्वस्थ होओगे, उतनी तुम्हारी बीमार होने की क्षमता भी बढ़ेगी। मरा हुआ आदमी तो बीमार नहीं हो सकता। जीवित आदमी बीमार होता है। और तुमने एक अनूठी घटना देखी होगी कि अक्सर ऐसा होता है कि बहुत स्वस्थ आदमी एक ही बीमारी में मर जाता है। अस्वस्थ आदमी कई तरह की बीमारियां आती रहें, तो भी सह जाता है। जो कभी बीमार नहीं पड़ा, वह पहली ही बीमारी में विदा हो जाता है। जो सदा खाट से बंधा रहा, उन्हें कोई बीमारी ले जाती नहीं।

जितना स्वस्थ आदमी हो, उतने ही उसके अस्वस्थ होने की क्षमता भी होती है। जितने ऊंचे चढ़ोगे, उतने गिरने का डर भी लगेगा। चढोगे ही नहीं ऊंचे, तो गिरने के भय का कोई सवाल नहीं है।

योग— भ्रष्ट शब्द है हमारे पास, तुमने कभी भोग— भ्रष्ट सुना? भोग में भ्रष्ट होने का उपाय ही नहीं है। सिर्फ योगी भ्रष्ट हो सकता है।

जो ऊंचा जाता है, वह गिर सकता है। जो जमीन पर ही रेंगता है, वह गिरेगा भी तो गिरेगा कहां? इसलिए ये दोनों बातें साथ—साथ चलेंगी। और साधक को रोज—रोज ज्यादा सावधानी चाहिए पड़ेगी।

तुम ऐसा मत सोचना कि साधना तुम्हारी आगे बढ़ेगी, तो सावधानी की जरूरत न रहेगी। सावधानी की जरूरत बढेगी। सिद्ध तो प्रतिपल सावधान है।

लाओत्से कहता है, जिस पुरुष को ताओ उपलब्ध हो गया, वह ऐसे चलता है, सावधान, जैसे प्रतिपल शत्रुओं से घिरा है। वह एक—एक कदम ऐसे रखता है, सोचकर, विचारकर, जैसे कोई सर्दी के दिनों में बर्फीली नदी में उतरता हो।

सिद्ध की सावधानी परम, आखिरी हो जाती है। सावधानी के लिए उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। लेकिन सावधानी तो गहन होती ही है।

तो तुम जितने ऊंचे उठोगे, उतने ही गिरने का डर है। और खाई बड़ी होने लगेगी, और भी ज्यादा सावधानी की जरूरत होगी।

इसमें कुछ आश्चर्य का कारण नहीं है, यह बिलकुल स्वाभाविक है। प्रेम अंकुरित होगा, तो घृणा भी साथ—साथ खड़ी है। अब थोड़े सावधान रहना। पहले तो जब प्रेम अंकुरित न हुआ था, तब तो तुम घृणा को ही प्रेम समझकर जीए थे। अब जब प्रेम अंकुरित हुआ है, तभी तुम्हें पहली दफे बोध भी आया है कि घृणा क्या है। और अब तुम गिरोगे, तो बहुत पीड़ा होगी।

अहोभाव की थोड़ी बूंदा—बांदी होगी, तो शिकायत भी बढ़ने लगेगी। क्योंकि जब परमात्मा से मिलने लगेगा, तो तुम और भी मांगने की आकांक्षा से भर जाओगे। आज मिलेगा, तो अहोभाव। कल नहीं मिलेगा, तो शिकायत शुरू हो जाएगी। अहोभाव के साथ—साथ शिकायत की खाई भी जुड़ी है। सावधान रहना। अहोभाव को बढ़ने देना और शिकायत से सावधान रहना। शिकायत तो बढ़ेगी, लेकिन तुम उस खाई में गिरना मत।

खाई के होने का मतलब यह नहीं है कि गिरना जरूरी है। शिखर ऊंचा होता जाता है, खाई गहरी होती जाती है, इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें खाई में गिरना ही पड़ेगा। सिर्फ सावधानी बढ़ानी पड़ेगी। भिखमंगा निश्चित सोता है। सम्राट नहीं सो सकता। भिखमंगे के पास कुछ चोरी जाने को नहीं है। सम्राट के पास बहुत कुछ है। सम्राट को सावधान होकर सोना पड़ेगा। थोड़ी सावधानी बरतनी पड़ेगी। तो ही बचा पाएगा जो संपदा है, अन्यथा खो जाएगी।

जैसे—जैसे तुम गहरे उतरोगे, वैसे—वैसे तुम्हारी संपदा बढ़ती है। उसके खोने का डर भी बढ़ता है; खोने की संभावना बढ़ती है।

उसके चोरी जाने का, लुट जाने का अवसर आएगा। जरूरी नहीं है कि तुम उसे लुट जाने दो। तुम उसे बचाना, तुम सावधान रहना। अड़चन इसलिए आती है कि तुम तो सोचते हो कि एक दफा ध्यान उपलब्ध हो गया, समाधि उपलब्ध हो गई, तो यह सावधानी, जागरूकता, ये सब झंझटें मिटी। फिर निश्चित चादर ओढ़कर सोएंगे।

इस भूल में मत पड़ना। निश्चित तो हो जाओगे, लेकिन असावधान होने की सुविधा कभी भी नहीं है। सावधान तो रहना ही पड़ेगा। सावधानी को स्वभाव बना लेना है। वह इतनी तुम्हारी जीवन—दशा हो जाए कि तुम्हें करना भी न पड़े, वह होती रहे। सावधान होना तुम्हारा स्वभाव—सहज प्रक्रिया हो जाए।

नहीं तो यह अड़चन आएगी। मुझे सुनोगे, समझ बढ़ेगी, समझ के साथ—साथ अहंकार भी बढेगा कि हम समझने लगे। उससे बचना। उस फंदे में मत पड़ना। पड़े, समझ कम हो जाएगी।

बड़ा सूक्ष्म खेल है, बारीक जगत है, नाजुक यात्रा है। स्वभावत:, जब समझ आती है, तो मन कहता है, समझ गए। तुमने कहा, समझ गए, कि गई समझ, गिरे खाई में। क्योंकि समझ गए, यह तो। अहंकार हो गया। अहंकार नासमझी का हिस्सा है। जान लिया, अकड़ आ गई; अकड़ तो अज्ञान का हिस्सा है। अगर अकड़ आ गई, तो जानना उसी वक्त खो गया। बस, तुम्हें खयाल रह गया जानने का। जानना खो गया।

ज्ञान तो निरअहंकार है। जहां अहंकार है, वहां शान खो जाता है। इसलिए प्रतिपल होश रखना पड़ेगा। जैसे कोई दो खाइयों के बीच खिंची हुई रस्सी पर चलता है कोई नट, ऐसे ही चलना है। प्रतिपल सम्हालना है। कदम—कदम सम्हालना है। एक दिन ऐसी घड़ी आएगी कि सम्हालना स्वभाव हो जाएगा। सम्हालना न पड़ेगा और सम्हले रहोगे। लेकिन अभी वह घड़ी नहीं है।

न तो आश्चर्य करने की जरूरत है, क्योंकि यह स्वाभाविक है, विपरीत साथ—साथ बढते हैं। और न चिंता में पड़ने की जरूरत है, क्योंकि यह स्वाभाविक है, विपरीत साथ—साथ चलते हैं। इस सत्य को समझकर, शिखर को तो बढने दो, अपने पैरों को सम्हालते जाओ; खाई में मत गिरो।

खाई का निमंत्रण भी बड़ा महत्वपूर्ण होता जाएगा। खाई का बुलावा भी बड़ा आकर्षक होने लगेगा। खाई खाई जैसी न लगेगी, स्वर्ग मालूम होने लगेगी। जितने ऊंचे जाओगे, उतनी ही खाई पुकारेगी कि आ जाओ, यहां विश्राम है। उससे सावधान रहना।

अगर गिर भी पड़ो, तो जितनी जल्दी हो सके, उठ आना और अपनी यात्रा पर निकल जाना।

गिरना भी होगा। जैसे छोटा बच्चा चलता है, उठता है, गिरता है, फिर उठता है, फिर गिरता है, फिर धीरे— धीरे गिरना बंद हो जाता है। अब तुम नहीं गिरते। कभी तुम भी छोटे बच्चे थे और गिरते थे। सिद्ध का अर्थ इतना ही है कि अब वह चलने में कुशल हो गया; अब गिरता नहीं। पर कभी वह भी गिरता था। अभी तुम भी गिर रहे हो, कभी वह घड़ी तुम्हारे जीवन में आ जाएगी, जब न गिरोगे। लेकिन अहंकार को बनने मत देना। चिंता को सघन मत होने देना। सावधानी को सदा ही बरकरार रखना। सावधानी को कभी छोड़ना है, यह बात ही विचार में मत लाना। वह जब छूटने को होगी, छूटेगी। वह तभी छूटेगी, जब स्वभाव बन जाएगी। उसके पहले सावधानी नहीं छूटती है।

दूसरा प्रश्न : आप कहते हैं, जो उसकी मर्जी, हम निमित्त—मात्र हो जाएं; जो भी जीवन में अभिनय मिला है, उसे हम पूरा करें। परंतु जो होता है, उसे होने देने से अर्थात शरीर, मन और अहंकार के साथ बहने से दुख उपजता है। तो क्या हम शरीर, मन और अहंकार के संबंध में भी निमित्त का सूत्र मानते रहें और दुख पाते रहें? निमित्त के सूत्र और दुख के सतत यथार्थ की पहेली को हम कैसे सुलझाएं?
तब तुम समझे ही नहीं निमित्त का अर्थ। निमित्त—मात्र हूं इस भाव—दशा की तुम्हें पकड़ न आई। तुम अपनी होशियारी लगा रहे हो। तुम सोच रहे हो, निमित्त हमें होना है, जहां—जहां सुख होगा, निमित्त हो जाएंगे, और जहां—जहां दुख होगा, वहां कर्ता हो जाएंगे। क्योंकि दुख तुम चाहते नहीं। निमित्त होने का अर्थ है, दुख देता है, तो तू देता है, तेरा दुख हमारा सौभाग्य है। कुछ तो दिया! सुख देता है, तो तू देता है। हमारा कोई चुनाव नहीं। हम दुख भी भोगेंगे, हम सुख भी भोगेंगे। तू जो देगा हमारे भिक्षा—पात्र में, हम अहोभाव से स्वीकार करेंगे। सुख में तो कोई भी निमित्त होना चाहता है, उसके लिए कोई सिद्ध होने की जरूरत पड़ेगी! सुख में तो सभी मानते हैं कि हम निमित्त हैं। जहां मजा ही मजा है, वहां कर्ता को लाने का सवाल ही क्या है! कर्ता तो वहां आना शुरू होता है, जहां दुख शुरू होता है। क्यों? क्योंकि दुख को तुम्हें हटाना है। दुख तुम्हें स्वीकार नहीं है। हटाना है, तो हटाने वाले को लाना पड़ेगा। सुख तो स्वीकार है, उसे हटाना नहीं है। तो कर्ता को लाने की कोई जरूरत नहीं है। जिस दिन तुम सुख और दुख को एक—सा ही स्वीकार कर लोगे, उसी दिन कर्ता विलीन हो जाएगा। न तो सुख को चाहो, न तो सुख की आसक्ति करो और न दुख का द्वेष। न दुख को छोड़ना चाहो, न सुख को पकड़ना चाहो, तो तुम्हारा कर्ता खो जाएगा। फिर जो हो। फिर तुम बीच में हो नहीं सोचने को।

प्रश्न से तो लगता है कि तुम बीच में खड़े हो, छांट रहे हो। क्या फिर हम दुख भोगते रहें?

तुम हो कौन, अगर निमित्त— भाव को समझ गए? यह कौन है जो कहता है, फिर हम दुख भोगते रहें?

यह कर्ता है, जो कह रहा है, दुख तो हम भोगना नहीं चाहते। असल में तुम निमित्त— भाव को भी इसीलिए स्वीकार कर रहे हो कि शायद इससे बहुत सुख मिले। तुम गलती में हो। निमित्त— भाव को स्वीकार करने से दुख भी मिलेंगे, सुख भी मिलेंगे, लेकिन धीरे— धीरे न तो दुख दुख रह जाएंगे, न सुख सुख रह जाएंगे। क्योंकि जो दुख को स्वीकार कर लेता है, उसके लिए दुख दुख कैसे रह जाएगा। दुख का अनिवार्य लक्षण है, उसके प्रति अस्वीकार का भाव। वह त्याज्य है। मन उसे गले नहीं लगाना चाहता। जिस दिन तुम गले लगा लोगे दुख को, दुख का तुमने स्वभाव बदल दिया। वह सुख जैसा हो गया।

सुख का स्वभाव है कि उसे तुम गले लगाना चाहते हो। लेकिन जब तुमने सुख को भी ऐसा ही स्वीकार किया, जैसा दुख को, कोई विशेष आदर न दिया, तो उसका गुणधर्म भी बदल गया।

ज्ञानी का सुख न तो सुख होता है, न दुख दुख होता है। धीरे— धीरे सुख—दुख का भेद ही खो जाता है। एक ऐसी घड़ी आती है कि सुख दुख का रूप मालूम होता है, दुख सुख का रूप मालूम होता है और तुम दोनों के पार होने लगते हो। वह दोनों के पार जो दशा है, वही साक्षी की है।

कर्ता से मुक्त होओगे, तो साक्षी बनोगे।

कृष्ण का सारा संदेश साक्षी का है। अर्जुन की सारी दुविधा यह है कि वह कर्ता होने से छूट नहीं पाता। वह कहता है, ऐसा हो जाएगा, तो वह ठीक न होगा। वह यह कह रहा है कि मैं अपने निर्णय को कायम रखूंगा; मैं निर्णायक रहूंगा। निमित्त— भाव का अर्थ है, परमात्मा निर्णायक है, मैं कौन हूं! मैं किसलिए बीच में आऊं! तो यह तो तुम पूछो ही मत कि क्या हम दुख पाते रहें? दुख से बचने की तुमने जन्मों—जन्मों कोशिश की है; दुख उससे मिटा? अब तक तो मिटा नहीं है, पाते ही रहे हो। सुख को पाने की भी तुमने जन्मों—जन्मों से कोशिश की है; सुख मिला? अब तक तो मिला नहीं है। सिर्फ आशा में कहीं इंद्रधनुष की भांति दिखाई पड़ता है।

अब बदलो जीवन की व्यवस्था को। अब तक कर्ता होकर देख लिया, न तो दुख मिटा, न सुख मिला। अब अकर्ता होकर भी देख लो। क्योंकि जो जानते हैं, वे कहते हैं कि अकर्ता होकर दुख भी मिट गया, सुख भी मिट गया। और फिर जिसका उदय होता है, उसे ही हमने सच्चिदानंद कहा है, उसे ही हमने परम आनंद कहा है।

वह परम आनंद सुख—दुख दोनों के पार है। वह न तो रात जैसा है, न दिन जैसा है। वह तो संध्याकाल है। सूरज जा चुका, रात अभी आई नहीं; रोशनी कायम है—बड़ी धीमी, मधुर, अनाक्रामक—वह संध्याकाल है। सुबह हुई, अभी सूरज आया नहीं, रात जा चुकी, ऐसा संध्याकाल है। उस संध्याकाल में जो ठहर गया, उसी को हम प्रार्थना करना कहते हैं। इसलिए हिंदू अपनी प्रार्थना को संध्या कहते हैं।

संध्या का अर्थ है, द्वंद्व के बीच में जो ठहर गया; दो के बीच में जिसने संधि खोज ली। सुख—दुख, प्रेम—घृणा, जीत—हार, रात—दिन, जीवन—मृत्यु, सब दो के बीच में जिसने संधि खोज ली, और जो संधि में खड़ा हो गया। उस संधिकाल को खोजो।

कृष्ण कहते हैं, सरल है खोज लेना। अगर तुम कर्ता न रह जाओ, तत्क्षण मिल जाएगा। तुम्हारे कर्ता होने से ही तुम चूकते चले जाते हो।

तो यह तो पूछो ही मत कि दुख उपजेगा, तो फिर हम क्या करेंगे। तुम तो रहे नहीं। जो होगा, होगा। क्या करोगे? तुम मर गए। तुम्हारी लाश पडी है। सुबह होगी, लाश क्या करेगी? दिन होगा, लाश क्या करेगी? रात आएगी, लाश क्या करेगी? घर खाली है, कोई है नहीं। सन्नाटा होगा, तो ठीक। गीत बजेगा, शोरगुल होगा, तो ठीक। घर खाली है, कोई है नहीं।

तुम खाली घर हो रहो। इसको बुद्ध ने शून्य होना कहा है, जिसको कृष्ण निमित्त मात्र होना कहते हैं, उसको ही बुद्ध ने शून्य होना कहा है। अगर ईश्वर पर तुम्हारी श्रद्धा हो, तो निमित्त मात्र हो जाओ; अगर ईश्वर पर श्रद्धा न हो, तो शून्य मात्र हो जाओ। बात दोनों एक ही हैं।

क्योंकि निमित्त मात्र होने के लिए तो ईश्वर की धारणा चाहिए। निमित्त मात्र का यह अर्थ है, करने वाला तू है। मैं सिर्फ उपकरण हूं। मगर अगर तुम्हारी श्रद्धा ईश्वर पर न हो, तो कुछ घबडाने की जरूरत नहीं है। तुम शून्य मात्र हो जाओ। तुम कहो, मैं हूं ही नहीं। बस, वही घट जाएगा।

जो भक्त को भगवान के माध्यम से घटता है, वही ध्यानी को शून्य के माध्यम से घटता है। ध्यानी के लिए शून्य भगवान है, भक्त के लिए भगवान ही शून्यता है। पर शून्य या निमित्त मात्र, एक ही अर्थ रखते हैं। कुल प्रयोजन इतना है कि मैं बीच में नहीं हूं।

तीसरा प्रश्न : आप हमेशा कहते हैं, ध्यान है कुछ न करना, मात्र होना, और समर्पण है द्वार। फिर आप अनेक योग और साधनाएं भी करने को कहते हैं। मेरी मुसीबत यह है कि कुछ न करने और समर्पण— भाव से जीने से तमोगुण बढ़ता नजर आता है और साधनाएं करने से अहंकार के तीशा होने का खतरा आने लगता है। ऐसी दशा में क्या मार्ग है?
न तो समर्पण करते हो, न साधना करते हो। जब मैं समर्पण की बात करता हुं, तब तुम साधना की बात सोचते हो। और जब मैं साधना की बात करता हूं तब तुम समर्पण की बात सोचते हो। बेईमान चित्त की दशा है।

पश्चिम के बहुत बड़े विचारक पैस्कल ने कहा है कि एक सदी में अगर तीन ईमानदार आदमी भी मिल जाएं, तो बहुत है—सौ वर्षों में। क्योंकि बेईमानी जन्मजात है। और बेईमानी खून में छिपी है। मेरे पास रोज यही प्रश्न खड़ा रहता है। अगर मैं किसी को कहता हूं कि कुछ न करो, तो वह कहता है, यह कैसे होगा? कुछ तो करना ही पड़ेगा। मैं कहता हुं, चलो, कुछ करो। वह कहता है, कुछ करेंगे, तो अहंकार बढ जाएगा।

ये बहाने हैं। ये जीवन को जैसा है, वैसा चलाए रखने के बहाने हैं। कुछ भी चुन लो; दोनों से एक जगह पहुंचना हो जाता है। फिर दूसरे की बात ही मत करो। दोनों रास्ते वहीं पहुंचाते हैं। तुम एक रास्ते पर चार कदम चलते हो, फिर दूसरे रास्ते पर चार कदम चलते हैं, फिर पहले रास्ते पर चार कदम चलते हो। तुम वहीं के वहीं बने रहोगे। तुम कभी पहुंचोगे नहीं।

तुम कोई भी एक रास्ता चुन लो, फिर फिक्र छोड़ो। हर रास्ते की सुविधाएं हैं और हर रास्ते की कठिनाइयां हैं।

तुम्हारी बेईमानी इसलिए पैदा होती है कि तुम चाहते हो, हर रास्ते की सुविधा भी तुम्हें मिल जाए दोनों की सुविधाएं मिल जाएं। और तुम चाहते हो, दोनों की असुविधाओं से भी बचना हो जाए। तब तुम्हारे मन में एक दुविधा पैदा होती है। तब तुम त्रिशंकु हो जाते हो। एक रास्ता चुन लो। अगर समर्पण ठीक लगता है, चुन लो। लेकिन समर्पण तुम वहीं तक चुनते हो, जहां तक तुम्हें आलस्य के लिए सुविधा मिले।

मैं चकित होता हूं कभी—कभी सोचकर कि लोग जिन शब्दों का उपयोग करते हैं, कभी उन पर विचार भी करते हैं या नहीं! समर्पण तुम चुनते हो सिर्फ इसलिए, ताकि कुछ न करना पड़े। समर्पण नहीं चुनते, कुछ न करना चुनते हो। खाली बैठे रहो।

तुम आलस्य चुनना चाहते हो, समर्पण में बहाना खोजते हो। फिर आलस्य से तो कोई परमात्मा मिलता नहीं, कोई सत्य मिलता नहीं। तो जल्दी ही तुम्हारे भीतर यह लगने लगता है, समर्पण से कुछ नहीं मिल रहा है। समर्पण तुमने कभी किया नहीं। तुमने आलस्य के लिए समर्पण शब्द का बहाना खोज लिया। फिर आलस्य से तो परमात्मा मिलता नहीं, तो तुम्हारे मन में विचार उठना शुरू होता है कि अब इससे तो मिल नहीं रहा है।

समर्पण किया ही नहीं, मिलने की आकांक्षा रखे बैठे हो। तो फिर सोचते हो, कुछ करें। तो कुछ करना शुरू करते हो। वह करना भी संकल्प नहीं है, वह करना भी साधना नहीं है। वह करना भी आलस्य से अहंकार को जो चोट लगती है.। क्योंकि आलसी को कोई आदर तो मिलता नहीं, कहीं नहीं मिलता। संसार तो करने वालों का है।

आलसी को आदर नहीं मिलता। आलसी सोचता है, हम समर्पण किए हैं। आदर उसे मिलता नहीं। वह चाहता है, दुनियाभर में खबर हो जाए कि हमारा समर्पण हो गया, देखो। सम्मान मिले! सम्मान दुनिया आलस्य को नहीं देती। और समर्पण हो जाए, तो सम्मान की इच्छा नहीं होती।

तो धीरे — धीरे बेचैनी पैदा होती है कि यह तो जिंदगी ऐसे ही जा रही है, कुछ पा भी नहीं रहे, कुछ मिल भी नहीं रहा, सिर्फ मक्खियां उड़ रही हैं चारों तरफ आलस्य की। तो आदमी करने में लगता है। करता है, तो अहंकार खड़ा होता है। तब तुम्हारे मन में चिंताएं खड़ी हो जाती हैं कि अब क्या करें।

कुछ भी चुन लो एक। अगर तुम समर्पण चुनते हो, तो आलस्य से बचना वहां जरूरी है।

अब यह बड़े मजे की बात है। आलसी समर्पण चुनते हैं और समर्पण के मार्ग पर आलस्य से बचना अनिवार्य है। क्योंकि वही खाई है वहा, वही खतरा है। अगर तुम संकल्प चुनते हो, तो अहंकार से बचना वहां जरूरी है, क्योंकि वही वहां खतरा है।

समर्पण में अहंकार का खतरा नहीं है और संकल्प में आलस्य का खतरा नहीं है। खतरे को देख लो। इसलिए अगर समर्पण करना है, तो समर्पण को अकर्मण्यता मत बना लेना। कर्म तो करना, कर्ता— भाव परमात्मा पर छोड़ देना।

लेकिन तुम कर्ता— भाव तो छोड़ते नहीं, कर्म छोड़ते हो परमात्मा पर। कर्ता— भाव बचाते हो और चाहते हो कि दुनिया तुम्हें सम्मान दे ऐसा, जैसे कि तुम बड़े साधक हो, बड़े कर्ता हो, बड़ी साधना की है, बड़े सिद्ध पुरुष हो। वह नहीं होगा।

चीजें बिलकुल साफ हैं। और अगर धुंधला— धुंधला तुम्हें लगता है, तो तुम धुंधलापन पैदा कर रहे हो। तुम चीजों को साफ देखना नहीं चाहते।

कल ही एक युवक मेरे पास आया। वह कहता है कि सब आपको समर्पण। जो आप कहेंगे, वह मैं करूंगा। मैंने उससे पूछा, तू करता क्या है अभी? उसने कहा कि मैं फार्मेसी में पढ़ता हूं। मगर फेल हो गया हूं। तो मैंने उसको कहा कि तू जा फार्मेसी की पढ़ाई पूरी कर ले। वह कहता है, वह तो मुझसे हो ही नहीं सकता। अभी एक क्षण पहले

मुझसे कहता है, जो आप कहेंगे, वह मैं करूंगा। फार्मेसी? वह तो मुझसे हो ही नहीं सकता। वह तो मैं कभी जीवन में उत्तीर्ण हो ही नहीं सकता। आप जो भी कहेंगे, वह मैं करूंगा, यह भी वह कहे चला जा रहा है।

हम अपने चित्त की दशा को भी नहीं देख पाते। अब फार्मेसी पूरी नहीं होती, परमात्मा को पूरा करने का इरादा हो रहा है। वह फार्मेसी से भागकर परमात्मा में शरण ले रहा है। और जिसकी इतनी भी हिम्मत नहीं है कि एक छोटे—से काम को पूरा कर ले, वह और क्या पूरा कर पाएगा?

तो मैंने उसे कहा, पहले फार्मेसी पूरी कर, फिर त्याग देना।

सफल आदमी त्याग कर सकता है, असफल आदमी त्याग नहीं कर सकता। कभी किसी चीज को असफल होकर मत त्यागना, नहीं तो वह तुम्हारे जीवन की शैली हो जाएगी। फिर तुम कभी सफल न हो पाओगे। जो भी छोड़ना हो, सफल होकर छोड़ना। अगर संसार छोड़ना हो, तो सफल होकर छोड़ना। पद छोड़ना हो, सफल होकर छोड़ना। धन छोड़ना हो, तो पाकर छोड़ना।

धन में तो कोई मूल्य नहीं है, लेकिन तुम पा सकते हो; वह जो भाव की बुनियाद बनती है, उसका मूल्य है। वह काम आएगी। तुम जहां भी जाओगे, जिस दिशा में भी जाओगे, वहां काम आएगी। अपना मार्ग साफ कर लेना चाहिए। अगर तुम अहंकारी हो, तो समर्पण तुम्हारे लिए मार्ग है। अगर तुम आलसी हो, तो संकल्प तुम्हारे लिए मार्ग है।

तुम कहोगे, यह तो मैं उलटी बात बता रहा हूं। आलसी को तो बताना चाहिए समर्पण, और अहंकारी को बताना चाहिए संकल्प। नहीं, तब तो तुम अपनी बीमारी को औषधि समझ रहे हो। अपने को ठीक से समझ लो। और तुम्हारी जो बीमारी हो, उसको समझ लो।

संकल्प के मार्ग पर अहंकार बढ़ता है। अगर अहंकार तुम्हारी बीमारी है, तो उस मार्ग पर तुम मत जाओ, अन्यथा वह भयंकर हो जाएगा। समर्पण के मार्ग पर आलस्य के बढ़ने की संभावना है। अगर आलस्य तुम्हारी बीमारी है, तो कृपा करके उस तरफ मत जाओ। आलस्य वाला संकल्प की तरफ जाए, तो संकल्प आलस्य को काटता है। अहंकारी समर्पण की तरफ जाए, तो समर्पण अहंकार को काटता है। गणित बिलकुल सीधा—साफ है। कहीं भी कोई धुंधलका, अंधेरा, उलझन नहीं है।

लेकिन तुम बीमारी को औषधि समझ लो, फिर अड़चन आती है। और फिर तुम बदलते जाओ; दो—चार कदम चले नहीं कि फिर बदल लिया, फिर दो—चार कदम चले नहीं कि फिर बदल लिया; फिर तुम कभी भी न पहुंच पाओगे। लगेगा, चल बहुत रहे हो, लेकिन पहुंच कहीं भी नहीं रहे हो। यात्रा व्यर्थ ही जाएगी। और तुम धीरे— धीरे ज्यादा से ज्यादा भ्रम में भर जाओगे। तुम्हारे नीचे की बुनियाद कंपने लगेगी। तुम्हारा चित्त कंपित, भयभीत, डरा हुआ हो जाएगा। तुम अपने ऊपर आस्था खो दोगे। और इस जगत में सबसे बड़ी दुर्घटना है, स्वयं पर आस्था खो देना। जिसकी स्वयं पर आस्था नहीं है, वह किसी दूसरे पर आस्था कर ही नहीं सकता।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि हम दूसरे पर आस्था नहीं करना चाहते। हमारी तो अपने पर ही आस्था है। मैं उनसे कहता हुं, जिसकी अपने पर आस्था है, वह किसी पर भी आस्था कर सकता है। और जिसकी अपने पर आस्था नहीं है, वह किसी पर आस्था नहीं कर सकता। जो भीतर ही नहीं है, उसे तुम बाहर कैसे फैलाओगे?

गुलाब के फूल में जो गंध आती है, वह गुलाब के भीतर से आती है। गंध दूर—दूर फैल जाती है हवाओं में। तुम्हारे कपड़ों पर छा जाती है, तुम्हारे नासापुटों में भर जाती है। गुलाब के पास से गुजरो, तो घंटों तक तुम्हें गुलाब की भनक मालूम पड़ती रहती है। लेकिन सुगंध भीतर से आती है।

आस्था अगर तुम्हारी स्वयं पर है, तो तुम गुरु पर आस्था कर सकोगे, तो तुम परमात्मा पर आस्था कर सकोगे। स्वयं की आस्था में और दूसरे पर आस्था में विरोध नहीं है। वे एक ही सुगंध की दो तरंगें हैं।

लेकिन जिसकी स्वयं पर आस्था नहीं है, वह किसी पर आस्था नहीं कर सकेगा। और जो किसी पर आस्था नहीं करता है, उसे सम्हल जाना चाहिए, संभावना है कि उसकी स्वयं पर भी आस्था नहीं होगी।

मनुष्य के जीवन में जितनी अड़चनें दिखाई पड़ती हैं, उतनी अड़चनें हैं नहीं। बहुत—सी तो बनाई हुई हैं। फिर तुम बना लेते हो, फिर अपने ही जाल में उलझ जाते हो। और फिर उस जाल से निकलना भी नहीं चाहते। और निकलना भी चाहते हो। क्योंकि जाल कष्ट देता है, तो निकलना चाहते हो। और जाल थोड़ा—सा सुख भी दे रहा है, इसलिए निकलना भी नहीं चाहते। एक हाथ से पकड़े रहते हो, एक हाथ से छोड़ना चाहते हो।

चौथा प्रश्न : आप कहते हैं, गुरु पृथ्वी पर परमात्मा की खबर है और यह भी कि मिलन के लिए प्रेम और श्रद्धा ही सेतु है। लेकिन जिसका मस्तिष्क संदेहशील हो और हृदय कुंठित, वह धर्म की यात्रा पर निकलने के पूर्व क्या करे?
निकले ही क्यों? यह तो ऐसा मामला है कि तुम मुझसे पूछो कि जो बीमार नहीं है, वह डाक्टर के घर कैसे जाए! जाए ही क्यों? तुम मुझसे पूछते हो कि जो भूखा नहीं है, वह भोजन की तरफ कैसे बढ़े! लेकिन बडे ही क्यों?

अगर भूख नहीं है परमात्मा की, बात ही छोड़ो। ऐसी आवश्यकता क्या है? भूख के पहले तो कोई भी कुछ नहीं कर सकता। कोई एपेटाइजर है नहीं, जो तुम्हें दिया जा सके, जिससे तुम्हारी भूख बढ़ जाए। एपेटाइजर भी काम करता है, क्योंकि भूख होती है, नहीं तो वह भी काम नहीं करेगा। अगर भूख न हो, तो वह और पेट को भर देगा। भूख और मर जाएगी।

अगर नहीं है परमात्मा की प्यास, तो छोड़ो परमात्मा को। वह अपने घर भला, तुम अपने घर भले। नाहक की झंझट क्यों खड़ी करते हो? जब प्यास जगेगी, तब जाना। और जल्दी क्या है? काल अनंत है। कोई जल्दी नहीं है। और परमात्मा किसी जल्दबाजी में, अधैर्य में नहीं है। तुम जब भी आओगे, उसे तुम पाओगे, वह सदा वहां है। कुछ देर से पहुंचोगे, तो ऐसा नहीं है कि तुम उसे नहीं पाओगे।

कठिनाई क्या है? कठिनाई यह है कि परमात्मा को तुम पाना भी चाहते हो, क्योंकि सुन—सुनकर लोभ पैदा हो गया है। सुन रहे हो सदियों से कि परमात्मा को पाने पर आनंद मिलता है। आनंद से मतलब तुम लेते हो सुख, जो कि गलत है। सुख की आकांक्षा है, और लोग कहते हैं, परमात्मा को पाने से मिलता है, और परमात्मा की कोई प्यास नहीं है।

सुख तुम भी पाना चाहते हो। संसार में सुख दिखाई पड़ता है, पैर उस तरफ जा रहे हैं। और ये ऋषि—मुनि कहे चले जाते हैं कि वहां सुख नहीं है। तुम्हें वहीं दिखाई पड़ता है। यह दूसरे कहते हैं कि वहां नहीं है। इन पर तुम्हें भरोसा भी नहीं आता, क्योंकि इन पर भरोसा कैसे आएगा! जो तुम्हारी प्रतीति नहीं है, उस पर तुम्हें भरोसा कैसे आएगा!

तुम्हारी तो प्रतीति यह है कि सुख वहा लुट रहा है बाजार में, और ये नासमझ समझा रहे हैं कि चलो हिमालय। बैठ जाओ शांत होकर, आख बंद करके। सुख तो है रूप में, और ये कहते हैं, आख बंद कर लो। सुख है स्वाद में, और ये नासमझ कहते हैं कि स्वाद त्याग कर दो। सुख है संसार में, और ये संन्यास सिखाते हैं। इसलिए तुम इनकी बात भी नहीं सुनते। पैर तुम्हारे संसार की तरफ बढ़े जाते हैं।

लेकिन संसार में तुम्हें दुख भी बहुत मिलता है, सुख की तो सिर्फ आशा ही रहती है, मिलता कभी नहीं। दिखाई पड़ता है, अब मिला, अब मिला, अब मिला, मिलता कभी नहीं। मिलता दुख है। जब दूख मिलता है, इन ऋषि—मुनियों की बात याद आती है कि पता नहीं, ये पागल ठीक ही कहते हों। शायद हम ही गलती में हैं। लेकिन वह जो दूर खड़ा सुख है, वह कहता है, तुम गलती में नहीं हो। जरा और चेष्टा करने की जरूरत है, और मंजिल पास है। और इतने पास आकर लौट रहे हो? कहां की बातों में पड़ते हो!

सुख बुलाता है संसार की तरफ। तुम्हारी आशा भी, तुम्हारी श्रद्धा भी सुख की है; मिलता है दुख। दुख मिलने के कारण तुम भयभीत भी हो जाते हो। ऋषि—मुनियों की बात सुनाई पड़ने लगती है। इसलिए तो सुख में कोई स्मरण नहीं करता, दुख में स्मरण करता है। दुख में लगता है कि शायद ये लोग ठीक ही कहते हों। जंचती तो बात नहीं है कि ठीक कहते हों। इनकी संख्या भी थोड़ी है। तुम करोड़ हो, तो ये कभी एक। करोड़ की मानें कि एक की? और इसको भी मिला है, इसका भी क्या पक्का! पता नहीं, कहता ही हो।

तुम्हारे अनुभव में तो कोई ऐसी बात है नहीं, जिससे तुम्हें श्रद्धा बढ़े। तुमने तो जहां—जहां गए, धोखा ही पाया। संसार में जहां तलाशा, वहीं धोखा पाया। जहां खोदा, वहीं पानी न मिला। पता नहीं ये ऋषि—मुनि भी एक धोखा ही हों। इस संसार के बड़े धोखे में यह भी एक धोखा। बस, भरोसा नहीं आता, संदेह है। और आशा भी नहीं छूटती, क्योंकि जीवन के अनुभव से तुम कुछ सीखते भी नहीं।

तो मैं तुमसे क्या कहूं? मैं तुमसे इतना ही कहता हूं कि अगर परमात्मा की तरफ प्यास नहीं है, तो परमात्मा की बात ही अभी छोड़ दो। यह बात तुम बेसमय उठा रहे हो। अभी मौसम नहीं आया। अभी ऋतु नहीं पकी। यह बात ही छोड़ दो। क्योंकि यह बेमौसम की बात खतरनाक है। इससे तुम संसार को भी न भोग पाओगे और परमात्मा की तरफ तो तुम जा ही नहीं सकते। इससे तुम बिलकुल ही अधर में लटके हुए हो जाओगे।

तुम संसार की तरफ पूरी तरह दौड़ लो। मेरी समझ यह है कि तुम अगर परमात्मा को भूल जाओ कुछ समय के लिए और संसार की तरफ पूरी तरह दौड़ लो, तो परमात्मा की प्यास पैदा हो जाएगी। तुम संसार को ठीक से जान ही लो। अगर सुख मिल गया, तब तो कोई परमात्मा की जरूरत ही न रहेगी। बात ही खतम हो गई। अगर सुख न मिला, तो प्यास पैदा हो जाएगी।

अब तक किसी को सुख मिला नहीं है। इसलिए प्यास पैदा होना निश्चित है। अगर नहीं पैदा हो रही, तो तुम संसार में ठीक से गए नहीं। तुम अधकचरे हो।

मैंने सुना है, एक यहूदी युवक अमेरिका जा रहा था। बाप—परिवार पुराने ढंग का था। वे बड़े चिंतित थे कि अमेरिका में लड़का बिगड़ न जाए। तो उन्होंने अपने धर्मगुरु को बुलाया और कहा, इसे कुछ समझाओ।

तो उस धर्मगुरु ने उसे बड़ा भयभीत किया। बड़े डर दिखाए कि अगर स्त्रियों के प्रति तूने रस लिया, तो नरक में कैसे—कैसे कढाओं में सडाया जाएगा। अगर तूने शराब पी, तो कैसे कष्ट तुझे भोगने पड़ेंगे। कीड़े—मकोड़े तेरे शरीर में छेद करके निकलेंगे और सारे शरीर को गूंथ डालेंगे। ऐसे सारे भय उसे दिखाए।

वह कंपने लगा। वह युवक बिलकुल कंपने लगा, उसको पसीना आ गया। उस युवक ने कहा कि आप जो कह रहे हैं, इनसे क्या मेरे मन में कामवासना उठनी बंद हो जाएगी? इनसे क्या प्रलोभन बंद हो जाएगा? इनसे क्या जो उत्तेजना चारों तरफ से मुझे मिलेगी अमेरिका में, वह नहीं मिलेगी?

उस धर्मगुरु ने कहा, नहीं, वह तो मैं नहीं कह सकता। उत्तेजना तो मिलेगी कि नहीं मिलेगी, वह तो मैं नहीं कह सकता। लेकिन तू कुछ भी भोगेगा, ठीक से न भोग पाएगा, इतना पक्का है। अगर स्त्री के प्रेम में पड़ेगा, तो नरक बीच में खड़ा रहेगा, कड़ाही जलती रहेगी। इतना भर मैं कह सकता हूं कि तू कुछ भी ठीक से न भोग पाएगा। यही तुम्हारी दशा है। तुम भोग ही नहीं पा रहे हो। भोगने जाते हो, तो नरक बीच में खड़ा है। शराब पीने जाते हो, तो पाप बीच में खड़ा है। धन कमाने जाते हो, तो स्वर्ग का प्रलोभन, नरक का भय बीच में खड़ा है। कहीं भी जाते हो संसार में, परमात्मा साथ चल रहा है। वह देख रहा है। तुम्हें छुट्टी नहीं है पूरी करने की।

ये तुम्हारी धारणाएं हैं, जो तुमने पुरोहितों से सीख ली हैं। तुम कृपा करके इन्हें छोड़ दो। तुम एक बार पूरी तरह सांसारिक हो जाओ। और मैं तुम्हें भरोसा दिलाता हूं कि अगर तुम पूरी तरह सांसारिक हो जाओ, तो सिवाय परमात्मा के और कोई प्यास बचेगी नहीं। क्योंकि संसार सिर्फ मरुस्थल है।

लेकिन उसे खोजना पड़ेगा, सारे कोने—कोने खोज लेने पड़ेंगे। तुम्हारा भ्रम मिट जाना चाहिए कि हो सकता है, कहीं कोई मरूद्यान छिपा हो। विराट संसार है, कहीं कोई सुख छिपा ही हो, पता नहीं। तुम रत्ती—रत्ती नाप डालो। तुम एक—एक लहर को खोज लो। तुम एक—एक वासना का पीछा कर लो। उस पीड़ा से ही उठेगी प्यास। और कोई उपाय नहीं है।

संसार जब व्यर्थ होता है, तभी संन्यास सार्थक होता है। भोग जब दो कौड़ी का हो जाता है, तभी योग का मूल्य समझ में आता है।

तुम्हारी अवस्था है, न घर के, न घाट के। संसार में जाते हो, ऋषि—मुनि पीछा कर रहे हैं। वे कमीज पकड़कर पीछे खींच रहे हैं। ऋषि—मुनियों के पीछे जाते हो, संसार पीछा करता है। वह कमीज पकड़कर पीछे खींचता है। तुम कहीं भी जा नहीं पाते। तुम एक तरफ जाओ। एक साधे, सब सधै।

मैं तुमसे कहता हूं तुम संसार ही साध लो। कृपा करके परमात्मा को बीच में मत लाओ। और इतना पक्का है कि अगर तुमने संसार ही साधा, एक साधा, सब सध जाएगा। क्योंकि संसार में सिवाय असफलता के और कुछ उपलब्ध हो नहीं सकता। वहां से आनंद पाने की आशा ऐसे ही है, जैसे कोई रेत से तेल निकालता हो। वह हारेगा ही।

उस हार से ही कुछ संभव है। परिपूर्ण पराजय से ही रूपांतरण संभव है। तुम अभी हारे नहीं हो। आशा लगी है। वही आशा तुम्हें भटकाए है।

नहीं, प्यास पैदा करने का और कोई उपाय नहीं है। यही भूल तुमने जन्मों—जन्मों की है, इसलिए अब तक पैदा नहीं हो पाई है। अब मत करो इस भूल को।

और मैं नहीं उत्सुक हूं कि तुम धार्मिक हो जाओ। क्योंकि मैं देख रहा हूं कि जिन लोगों ने तुम्हें धार्मिक बनाने में उत्सुकता ली है, उन्होंने तुम्हें बरबाद किया है। मेरी उत्सुकता तुम्हें सच्चा बनाना है, धार्मिक बनाने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। संसार में हो, सच्चाई से संसार में हो जाओ।

जब मैं कह रहा हूं सचाई से संसार में हो जाओ, तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सत्य बोलो संसार में। मैं यह कह रहा हूं कि पूरे संसारी हो जाओ, प्रामाणिक रूप से संसारी हो जाओ। जो भोगना है, भोग ही लो। सब भोग दुख पर ले आते हैं। सब भोगों के बाद अंधकार छा जाता है। उस गहन अंधकार से ही सुबह पैदा होती है। अब सूत्र

और हे महाबाहो, संपूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए ये पांच हेतु सांख्य सिद्धांत में कहे गए हैं, उनको तू मेरे से भली प्रकार सुन। हे अर्जुन, इस विषय में आधार और कर्ता तथा न्यारे—न्यारे करण, नाना प्रकार की न्यारी—न्यारी चेष्टा, वैसे ही पाचवां हेतु दैव कहा गया है।

कृष्ण कहते हैं, पांच कारण हैं, हेतु हैं, सभी घटनाओं के। कोई आधार होता है घटना का, निराधार तो कुछ भी घट नहीं सकता। कोई करने वाला होता है घटना का, बिना कर्ता के घटना घट नहीं

सकती। उपकरण होते हैं, उनके सहारे के बिना घटना नहीं घट सकती। चेष्टा होती है, यत्न होता है, प्रयास होता है, उसके बिना भी घटना नहीं घट सकती। और फिर जन्मों—जन्मों के संचित कर्म होते हैं, जिनको दैव कहा है। वे भी उस घटना को घटाने में सहयोगी होते हैं। ये पांच आधार हैं कर्म के।

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पांचों ही कारण हैं। परंतु ऐसा होने पर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता है।

कारण तो हैं, पाच हैं, लेकिन फिर भी तुम उनके बाहर हो। घटना घटती है, तो अकारण नहीं घट सकती। घटना घटती है, तो कर्ता भी होगा। घटना घटती है, तो घटाने की चेष्टा भी होगी। पूर्व—संस्कार पीछे खड़े होंगे। किसी भी घटना के लिए ये पांच सहारे चाहिए। लेकिन फिर भी तुम इन पाचों के बाहर हो। तुम साक्षी हो, तुम देखने वाले हो।

भूख लगी, तो शरीर ने आधार बनाया। भूख उठी। इसको तुम भूख की तरह समझ लेते हो, क्योंकि पहले भी तुमने भूख को भूख की तरह जाना है। अगर यह पहली ही दफे लगती, तो तुम पहचान भी न पाते कि यह भूख है। शायद तुम समझते पेट में दर्द हो रहा है। तुम कुछ भी समझते, लेकिन भूख नहीं समझ सकते थे।

पहले दिन का बच्चा भी पहली ही घड़ी, पैदा होते ही जो भूख पैदा होती है, तो अनुभव कर लेता है कि भूख लगी और मां के स्तन को खोजने निकल जाता है। यह खबर है इस बात की कि यह स्तन बहुत बार पहले भी खोजा गया है। अन्यथा कैसे खोजोगे? पूर्व—संस्कार चाहिए।

तो यह बच्चा कैसे जानता है कि भूख लगी? इसको यह भूख की तरह कैसे पहचानता है? यह कैसे जानता है कि स्तन इसकी भूख की पूर्ति कर देंगे? इसका हाथ स्तन की तरफ क्यों बढ़ने लगता है? यह कैसे स्तन से दूध को पीता है? इसने कभी पहले पीया नहीं। तो दैव।

पहला अतीत, सारा अतीत पीछे से काम कर रहा है। भूख लगी, शरीर ने आधार दिया, संस्कार ने पहचाना, फिर तुमने चेष्टा की। क्योंकि भूख लगी, तो चेष्टा करनी पड़ेगी। भीख भी मांगने गए, तो भी चेष्टा होगी; दुकान गए, तो भी चेष्टा होगी; चोरी करने गए, तो भी चेष्टा होगी। धर्म के अनुकूल या प्रतिकूल कुछ भी करो, चेष्टा होगी।

जब तुम चेष्टा करोगे, तो तुम्हारा मन कर्ता भी होगा। बिना करने वाले के चेष्टा कैसे होगी? तो मन करेगा। मन विचार करेगा, क्या करूं, क्या न करूं? कैसे रोटी पाऊं आज? चोरी से? भिक्षा से? किसी के घर मेहमान बनकर? कमाकर? क्या करूं? तो मन कर्ता बनेगा। और तुम जो भी उपकरण, जिन—जिन साधनों से भोजन जुटाओगे, वे करण हैं।

ये पांच हैं; तुम छठवें हो।

कृष्ण कहते हैं, इन पांचों में जिसने अपने को डूबा हुआ समझ लिया, वह दुर्मति। तुम इन पांचों के बाहर हो; तुम इन पांचों के देखने वाले हो।

भूख लगती है, वह तुम्हें नहीं लगती। तुम देखते हो, तुम पहचानते हो कि भूख लगी। भूख तुमसे बाहर है, तुमसे दूर है। भूख तुम्हारे आस—पास घटती है, तुममें नहीं घटती।

भूख लगते ही मन चेष्टा में लग जाता है। मन भी तुमसे बाहर है। उसकी भी जरूरत है। बिना मन के भूख लगी रहेगी और तुम्हें पता ही नहीं चलेगा। क्या करोगे? मर जाओगे। मन चेष्टा में लग जाता है, उपाय खोजने लगता है, हाथ—पैर चलने लगते हैं, उपकरण जुटाए जाने लगते हैं, आटा लाओ, पानी लाओ, आग जलाओ, व्यवस्था करो भोजन बनाने की।

लेकिन इस सब घटने में तुम बाहर हो। तुम्हारा होना साक्षी का होना है। तुम सिर्फ देखने वाले हो, द्रष्टा हो।

ऐसा होने पर जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता।

अगर इन सब पांचों के कारण तुमने यह समझा कि तुम कर्ता हो, तो तुम यथार्थ नहीं देखते। तुम अज्ञान में पड़े हो।

और हे अर्जुन, जिस पुरुष के अंतःकरण में मैं कर्ता हुं, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोगों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता है।

कृष्ण कहते हैं, अगर इन पांच के बाहर तू अपने को जान ले, जो कि तेरा होना है ही, सिर्फ प्रत्यभिज्ञा चाहिए, होश चाहिए। अगर तू इन पांचों के बाहर अपने को मान ले, जान ले, पहचान ले, तो फिर तू जो भी करता है, उसका कोई पाप—बंध तेरे ऊपर नहीं है। फिर तू भोजन करते हुए उपवासा रहेगा, बोलते हुए मौन, चलते हुए अनचला, करते हुए अकर्ता, संसार में होते हुए भी संसार के बाहर। क्योंकि साक्षी सदा बाहर है। वह लिपायमान नहीं होता। साक्षी का गुणधर्म क्या है? वह लिपायमान नहीं होता; वह किसी चीज में डूबता नहीं। तुम उसे डुबा नहीं सकते। वह सदा बाहर

ही रहता है। वह बाजार में दुकान करेगा और डूबेगा नहीं। वह कर्मों में लीन होगा, फिर भी भीतर एक तत्व शेष रहेगा, जो लीन नहीं होगा। यह जो लिपायमान न होने की कला है, यही धर्म है।

इसलिए क्या कहते हैं, हे अर्जुन, ऐसी अगर तेरी दशा हो जाए, अगर तू पहचान ले कि यह सारा कम इन पांच का है और तू अकर्ता है, तो फिर ये जो सारे लोग खड़े हैं, अगर तू इनको मार भी डाल, तो भी पाप से नहीं बंधता है। क्योंकि तूने कोई कृत्य किया ही नहीं; हुआ, किया नहीं। घटना जरूर घटी, उसके कारण थे, उपकरण थे, आधार थे, हेतु थे, लेकिन तू बाहर रहा।

वह पुरुष इन सब लोगों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है।

क्योंकि जब मारने वाला ही भीतर भाव नहीं है, तो कैसे हम कहें कि वास्तव में मारता है! सिर्फ अभिनय करता है मारने का।

और न पाप से बंधता है।

यह भारत की गहनतम खोज है। साक्षी तक विश्व का कोई धर्म इस भांति नहीं पहुंचा। बड़े से बड़े धर्म दुनिया में पैदा हुए हैं, लेकिन वे भी कर्ता तक ही पहुंचकर रुक जाते हैं। वे भी कहते हैं, अच्छा करो, बुरा मत करो।

यहूदियों की दस आज्ञाएं हैं या ईसाइयों की, वे सब करने पर आधारित हैं। चोरी मत करो, हिंसा मत करो; करुणा करो, दया करो। महावीर के वचन हैं, उनका भी सारा सूत्र करने से बंधा हुआ है। हिंसा मत करो, परिग्रह मत करो। सब अच्छी बातें हैं, लेकिन एक सीढ़ी नीचे रह जाती हैं, करने पर खड़ी हैं। कर्ता समाप्त नहीं होता।

कृष्ण आखिरी बात कह रहे हैं। इसके पार फिर कोई जाना नहीं है। इसके पार अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह आखिरी घड़ी है। साक्षी से पीछे नहीं जा सकते। साक्षी यानी बस आ गए आखिरी से आखिरी मंजिल तक। तुम साक्षी के साक्षी नहीं हो सकते। तुम सब चीजों को देख सकते हो दुनिया में, स्वयं को नहीं देख सकते। स्वयं तो देखने वाला है, वह सदा ही देखने वाला है; उसे तुम कभी देखा जाने वाला नहीं बना सकते। वह द्रष्टा है, उसे तुम कभी दृश्य नहीं बना सकते।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि फिर ये सारे लोग भी तेरे द्वारा मारे जाएं, तो न तो वास्तव में ये मारे जाते हैं, क्योंकि जिसने अपने साक्षी को जान लिया, उसने यह भी जान लिया कि भीतर का तत्व अमृत है। इन बाहर के लोगों को भी काटते समय वह जानेगा कि शरीर ही काट रहा हुं, इनको मार नहीं रहा हूं। मरता तो कोई है ही नहीं। कृष्ण के हिसाब से हिंसा तो असंभव है। मरना तो होता ही नहीं, तो हिंसा कैसे संभव है? हिंसा इसलिए थोड़े ही होती है कि तुमने किसी को मार डाला। हिंसा सिर्फ इसलिए होती है कि तुमने समझा कि तुमने मार डाला।

तुम्हारे मारने से कोई मरता है? ऐसे ही जैसे कोई किसी के कपड़े छीन ले, इससे कोई मरता है? आदमी दूसरे कपड़े खरीद लेगा। तुमने किसी को मारा, देह छीन ली, देह दूसरी देह खोज लेगी। नई देह मिल जाएगी। शायद पुरानी जराजीर्ण हो गई थी, तुमने बड़ी कृपा की। नई देह मिल जाएगी। जैसे कोई घर को बदल ले, ऐसे देहों को बदल लिया जाएगा।

तुम्हारे मारने से भी कोई मरता नहीं, इसलिए वस्तुत: तो हिंसा होती ही नहीं, हो नहीं सकती। और मारते समय तुम कर्ता नहीं हो। कृत्य हो रहा है, कारण सब मौजूद हैं, तुम बाहर खड़े हो। इसलिए मैं कहता हूं कृष्ण का यह सूत्र जीवन को अभिनय बना देता है। तुम एक अभिनेता हो, कर्ता नहीं। एक बड़ा मंच है जीवन का, उस पर तुम बहुत तरह के काम कर रहे हो। जो तुम्हें दिया गया है, जो तुमने पाया है कि तुम्हें दिया गया है, तुम उसे पूरा कर रहे हो बिना लिपायमान हुए।

इसे थोड़ा सोचो, इसे थोड़ा साधो, और तुम्हारे जीवन में संन्यास की सुगंध उतरनी शुरू हो जाएगी।

इसलिए मैं तुमसे नहीं कहता कि तुम छोड़ो घर को, गृहस्थी को, बच्चों को, परिवार को। उसके छोड़ने से कुछ अर्थ नहीं है। क्योंकि अगर छोड़ने वाला न छूटा, तो कुछ भी नहीं छूटा।

तुम रहो वहीं, जहां हो, सभी जगहें एक—सी हैं। रहो वहीं, रहने के ढंग को बदल दो। और तुम बड़े हैरान होओगे। जरा से ढंग को बदलने की बात है। और उस ढंग की बदलाहट का बाहर पता भी चलना जरूरी नहीं है। किसी को भी पता न चलेगा; कानों—कान खबर न होगी। लेकिन तुम्हारा जीवन आमूल बदल जाएगा।

तुम पति हो, इसको अभिनय समझो। पत्नी छोड्कर भागने की कोई भी जरूरत नहीं है। सिर्फ अभिनय समझो। और पति का काम जितनी कुशलता से कर सको, कर दो। तुम पत्नी हो, पत्नी का काम कुशलता से कर दो। अभिनय है, कुशलता से करना है। लिपायमान मत हो।

किसी को कहने की भी जरूरत नहीं है। किसी को पता चलने की भी जरूरत नहीं है। तुम भीतर सरक जाओ। सब काम वैसा ही चलता रहे। हाथ उठेंगे, बुहारी लगेगी, पति आएगा, चरण धोए जाएंगे; पति आएगा, बाजार से फूल ले आएगा; सब काम वैसे ही चलेगा। कहीं कोई भेद न होगा। कहीं रत्तीभर भेद की जरूरत नहीं है। भीतर कुछ सरक जाएगा। भीतर से कोई हट जाएगा। भीतर घर खाली हो जाएगा। कर्ता वहां नहीं रहा।

और जब कर्ता भीतर नहीं रह जाता, तो ऐसा सन्नाटा छा जाता है जीवन में, कि कोई भी चीज उस सन्नाटे को तोड़ती नहीं। ऐसी गहन शांति उतर आती है, कि सारा संसार कोलाहल करता रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता। तूफान और आधी के बीच भी तुम्हारे भीतर सब शांत बना रहता है। सफलता हो, असफलता; सुख हो, दुख; हार हो, जीत, जीवन हो, मृत्यु—कुछ अंतर नहीं पड़ता। एक बात के साध लेने से, कि तुम पीछे हटना सीख गए, कोई अंतर नहीं पड़ता। इसे तुम थोड़ा जीवन में इसकी कोशिश करो। यह बड़ी अनूठी कोशिश है और बड़ी रसपूर्ण। और इससे ऐसा आनंद का झरना फूटने लगता है, जिसका हिसाब रखना मुश्किल है। और तुम खुद मुस्कुराओगे कि यह क्या हो रहा है। इतनी सरल थी बात!

घर आए हो, बेटे की पीठ थपथपा रहे हो, मत थपथपाओ बाप की तरह। बस, थपथपाओ नाटक के बाप की तरह। और मजा यह है कि पीठ ज्यादा अच्छी तरह थपथपाई जाएगी। बेटा ज्यादा प्रसन्न होगा। कहीं कुछ अड़चन न आएगी, कहीं कुछ तुम्हारे कारण बाधा पैदा न होगी और तुम्हारे जीवन का सार सधने लगेगा।

अगर तुम इस जीवन के मंच से ऐसे आओ और ऐसे गुजर जाओ, जैसे अभिनेता आता है; मरते वक्त तुम्हारी मृत्यु तब ऐसे ही होगी, जैसे परदा गिरा; उसमें कोई पीड़ा न होगी। एक कृत्य को ठीक से पूरा कर लेने का अहोभाव होगा। विश्राम की तरफ जाने की भावना होगी। और काम पूरा हो गया, परमात्मा का आह्वान आ गया, वापस लौट चलें। परदा गिर गया।

गेटे, जर्मनी का एक बहुत बड़ा नाटककार, कवि हुआ। जीवनभर नाटकों का ही अनुभव था। और गैटे धीरे—धीरे नाटक के अनुभव से ही उस गहनता को अनुभव करने लगा, जिसको हम साक्षी— भाव कहते हैं। नाटक, और नाटक, और नाटक। धीरे—धीरे पूरा जीवन उसे नाटक जैसा दिखाई पड़ने लगा। जब गेटे मरा, तो उसके आखिरी शब्द ये थे। उसने आख खोली और उसने कहा कि देखो, अब परदा गिरता है!

नाटककार की भाषा थी, पर चेहरे पर बड़ी प्रसन्नता थी, बड़ा आनंद का अहोभाव था। एक काम कुशलता से पूरा हो गया; परदा गिरता है। मौत तब परदे का गिरना है और जीवन तब खेल है, लीला है।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि बस, इतना तू समझ ले; भागने की जरूरत नहीं है इस महायुद्ध से। और भागकर कोई कहीं जा नहीं सकता, क्योंकि जहां भी जाओगे, वहीं युद्ध है। जीवन महासंघर्ष है। वह। छोटी मछली बड़ी मछली के द्वारा खाई जा रही है। इसका कोई उपाय नहीं है।

शायद यही परमात्मा का नियोजित खेल है, कि इस युद्ध में तुम जागो, कि इस युद्ध के भी तुम पार हो जाओ। रहो निमित्त—मात्र, करने दो उसे जो उसकी मर्जी है। बहे उसकी हवाएं, तुम सिर्फ उन्हें गुजर जाने दो। तुम बाधा मत

डालों, तुम बीच में मत आओ। और सब सध जाता है। बिना कहीं गए, सब मिल जाता है। एक बिना कदम उठाए, मंजिल घर आ जाती है।

साक्षी— भाव कुंजी है। इसे थोड़ा प्रयोग करना शुरू करो। यह परम ध्यान है। भूल— भूल जाओ, फिर—फिर याद कर लो। भोजन कर रहे हो, ऐसे ही करो जैसे कि बस, एक नाटक में कर रहे हैं। नाटक बड़ा है माना, बड़ा लंबा है, सत्तर साल चलता है, अस्सी साल चलता है, लेकिन है नाटक।

और तुम्हें भी कई दफे खयाल आ जाता है कि क्या नाटक हो रहा है! लेकिन बार—बार भूल जाते हो। स्मरण को सम्हाल नहीं पाते, सुरति को बांध नहीं पाते, छूट—छूट जाती है हाथ से। बस, छूटे न। इतना—सा अगर तुम साध पाओ, एक छोटा—सा शब्द, साक्षी। उसमें सारे शास्त्र समाए हैं। यह जो विराट जीवन फैला दिखाई पड़ता है, जहां भी जाओ, रास्ते में खड़े होकर देखो ऐसे ही जैसे नाटक देख रहे हो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक नाटक देखने गया था। एक अभिनेता बड़ा कुशल अभिनय कर रहा था। और वह नाटक में कई बार अपनी पत्नी को आलिंगन करता है; उसका चुंबन लेता है। मुल्ला की पत्नी भी पास बैठी थी। उसने मुल्ला का हाथ हाथ में ले लिया और कहा, मुल्ला, तुम इस भांति मुझे कभी प्रेम नहीं करते।

मुल्ला ने कहा, वह तो अभिनय है देवी; उस पर ज्यादा ध्यान मत दे। पत्नी ने कहा, अभिनय नहीं है। वे वास्तविक जीवन में भी पति—पत्नी हैं, वे जो अभिनय कर रहे हैं पति—पत्नी का। मुल्ला ने कहा, तब तो यह अभिनेता गजब का है, कि अपनी ही पत्नी को इतने मुग्धभाव से अता है!

अपनी ही पत्नी को मुग्धभाव से चूमना बड़ा कठिन हो जाता है। उसके लिए बड़ा कुशल अभिनय चाहिए। और सभी चीजें लाभ की हैं।

पूरब में हमने सब चीजें थिर कर ली थीं। ज्यादा हमने स्वतंत्रता न दी थी जीवन को। क्योंकि स्वतंत्रता से समय नष्ट होता है और मूल्यवान अनुभव करीब नहीं आ पाता। अगर तुम हर दो—चार महीने में पत्नी बदलते जाओ, तो यह खेल, अभिनय कभी भी न हो पाएगा। क्योंकि तुम हमेशा ही उत्तेजित रहोगे। लेकिन एक ही पत्नी चालीस साल, पचास साल; सब चीजें थिर हो जाती हैं, उत्तेजना खो जाती है। उस अनुत्तेजित अवस्था में चीजें अभिनय जैसी हो जाती हैं। तुम चीजों के आर—पार ज्यादा कुशलता से देख पाते हो।

हमने चीजें थिर कर ली थीं, सिर्फ इसीलिए, ताकि आख ठीक से आर—पार जा सके। दृश्य अगर बदलते रहें दिन—रात, तो तुम किसी भी दृश्य में गहराई से नहीं उतर पाते। पूरब ने एक बड़ी थिर जीवन—व्यवस्था बनाई थी, जिसमें कुछ बहुत बदलता नहीं था।

तुम ऐसा समझो कि अगर रामलीला भी हर साल बदलने लगे, उसकी कहानी बदल जाए, तो वह रामलीला जैसी न लगेगी। हर बार तुम उत्तेजित होकर वहां पहुंच जाओगे।

तुम ऐसा समझो कि एक ही फिल्म तुम्हें पच्चीस बार देखनी है। आज देखकर आए, कल देखी, परसों देखी। आज जो उत्तेजना होगी, कल न रह जाएगी। कल तुम्हें घटना मालूम ही है कि क्या होने वाला है। परसों तो बात बिलकुल ही फीकी हो जाएगी। तुम थोड़ी— थोड़ी झपकी भी बीच में लेने लगोगे। चौथे दिन तो तुम मजे से सोने लगोगे कि अब क्या, जानने को क्या है, सब जान लिया। अगर पच्चीस दिन तुम्हें एक ही फिल्म देखनी पड़े, तो तुम मुक्त हो जाओगे उस फिल्म से, बिलकुल मुक्त हो जाओगे। लेकिन रोज नई फिल्म हो, तो उत्तेजना बनी रहेगी। नए को जानने के लिए मन आतुर होता है।

पश्चिम ने एक बदलता हुआ समाज बनाया है, जो रोज बदल रहा है। इसलिए पश्चिम में आखिरी क्षण तक बेचैनी बनी रहती है। मरते दम तक आदमी ऐसा व्यवहार करता है, जैसे अभी जवान है। सुनकर' ही हैरानी होती है कभी हमें।

एक संन्यासी से मैं पूछ रहा था। उसने कहा कि मेरे पिता की तबीयत खराब है। और वे बडी चिंता में पड़े हैं। आप कुछ सहायता करें। मैंने कहा, उनकी चिंता क्या है?

काफी पैसे वाले हैं। पचासी साल की उम्र है। चिंता यह है कि पत्नी भी है और एक गर्ल—फ्रेंड भी है। पचासी साल की उम्र में, गर्ल—फ्रेंड। उससे झगड़ा—झांसा है। क्योंकि वह पत्नी बरदाश्त नहीं करती। वे पचासी साल के हैं, गर्ल—फ्रेंड पच्चीस साल की है। अब यह जो पचासी साल का आदमी है, पचासी साल का हो ही नहीं पाया। यह पच्चीस साल की उम्र में तो समझ में आ जाती है बात, लेकिन पचासी साल की उम्र में समझ में नहीं आती।

लेकिन पश्चिम में समझ में आती है, कोई अड़चन नहीं है। जीवन कंपता हुआ है, कुछ थिर नहीं है। जैसे कि नदी डांवाडोल हो, तो उथली नदी की भी गहराई में देखना मुश्किल है। नदी थिर हो, लहर न उठती हो, तो गहरी से गहरी नदी की भी तलहटी में देखना संभव हो जाता है।

हमने एक घिर जीवन बनाया था। उसके पीछे राज था। हम हर आदमी को साक्षी बनाने की चेष्टा में संलग्न थे। हमारी कोशिश यह थी कि तुम जीवन को देखते—देखते ही यह समझ जाओ कि यह तो सिर्फ खेल है। इसके पीछे तुम्हें दिखाई पड़ने लगे। हर दृश्य के पीछे तुम्हें द्रष्टा दिखाई पड़ने लगे; हर शरीर के पीछे तुम्हें आत्मा दिखाई पड़ने लगे; हर घटना के पीछे तुम्हें परमात्मा का हाथ दिखाई पड़ने लगे।

इसलिए हमने सब चीजों को थिर कर दिया था, ताकि लहरों के कंपन के कारण दृष्टि में बाधा न पडे। सब चीजें साफ हो जाएं। साक्षी सूत्र है, महासूत्र है। छोड़ दो वेद, छोड़ दो उपनिषद, भूल जाओ गीता, अगर यह एक दो अक्षरों का छोटा—सा शब्द, साक्षी, याद रह जाए तो तुम सारे शास्त्रों को अपने भीतर जन्म दे सकते हो। क्योंकि सभी शास्त्रों की बस इतनी सी ही शिक्षा है, कि तुम कर्ता न रहो, द्रष्टा हो जाओ।

इसे थोड़ा शुरू करो। मेरे समझाने से यह समझ में न आएगा। यह बात ही समझने—समझाने की नहीं है। लिखा—लिखी की है नहीं, देखा—देखी बात।

प्रवचन 17. गुणातीत जागरण

सूत्र—

ज्ञानं ज्ञेयं पीरज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग ।। 18 ।।
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।। 19 ।।
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।। 20 ।।
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृश्रश्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। 21 ।।
यत्तु कृत्स्नवक्केस्मिन्क्रायें स्थ्यमहैक्कुम्।
अतल्छार्श्रवदल्पं च तत्तामसमुदहतम्।। 22 ।।
तथा है भारत, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ये तीनों तो कर्म के प्रेरक हैं अर्थात इन तीनों के संयोग मे तो कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है। और कर्ता? करण और क्रिया, ये तीनों कर्म के अंग हैं अर्थात इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है।

उन सब में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्य ने तीन प्रकार के कहे है, उनको भी तू मेरे से भली प्रकार सुन।

हे अर्जुन, जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक—पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मा को विभागरहित, समभाव से स्थित देखता है उस ज्ञान की तू सात्विक जान।

और जो ज्ञान अर्थात जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य संपूर्ण भूतों में अनेक भावों को न्यारा— न्यारा करके जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही संपूर्णता के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्ति वाला, तत्वअर्थ से रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है।

पहले कुछ प्रश्न।

पहला प्रश्न : आपकी ओर देखने से निष्काम कर्म का चमत्कार नजर आता है, लेकिन अपनी ओर देखने से वह एक असंभावना जैसा दिखता है, ऐसा क्यों?
जिस प्रेम से मेरी तरफ देखते हो, उसी प्रेम से अपनी तरफ देखो। जिस श्रद्धा से मेरी तरफ देखते हो, उसी श्रद्धा से अपनी तरफ देखो। फिर जरा भी फासला न रह जाएगा। फिर तुम्हें अपने भीतर भी वही दिखाई पड़ेगा, जो मेरे भीतर दिखाई पड़ता है।

प्रेम की आंख चाहिए। असली बात श्रद्धापूर्ण हृदय, प्रेम से भरी आंख है। लेकिन इस संसार में सबसे कठिन बात यही है, अपने को ही प्रेम से देखना। दूसरे के प्रति प्रेम रखना कठिन है, इतना कठिन नहीं। दूसरे के प्रति श्रद्धा रखना बहुत कठिन है, पर फिर भी असंभव नहीं है। सध जाता है, सधते—सधते सध जाता है। लेकिन अपनी तरफ श्रद्धा के भाव से देखना बड़ी असंभव—सी बात लगती है। लेकिन जिस दिन वह असंभव घटता है, उसी दिन जीवन में कुछ घटा, ऐसा जानना।

आंखें दूसरे को तो देख पाती हैं, क्योंकि दूसरा बाहर है; स्वयं को नहीं देख पाती, क्योंकि स्वयं तो आंखों के भीतर छिपा है। वहां जाने के लिए तो आंख बंद करनी होगी। दूसरे की तरफ जाने के लिए तो यात्रा करनी पड़ती है जीवन—ऊर्जा को। अपने तक आने के लिए सब यात्रा छोड़नी पड़ेगी, शांत और थिर होकर बैठ जाना पड़ेगा। उस थिरता के क्षण में ही स्वयं से मिलन होगा।

बहुत कठिन है, लेकिन असंभव नहीं; घटता है। और यह मैं तुमसे कहूंगा, जब तक वह तुम्हारे भीतर न घट जाए तब तक तुम कितनी ही श्रद्धा करो किसी पर, उससे सहारा भला मिले, उससे मंजिल पूरी न होगी। अपने पर श्रद्धा लानी होगी।

कठिनाई और भी बढ़ गई है, क्योंकि तुम्हारे तथाकथित धर्मगुरुओं ने, तुम्हारे महात्माओं ने, तुम्हें स्वयं की निंदा सिखाई है; तुम्हें स्वयं का अपमान सिखाया है, तुम्हें स्वयं को ही तिरस्कृत करने की भावना सिखाई है। उन्होंने तुमसे यही कहा है कि तुम महापापी हो, चोर हो, बेईमान हो, झूठे हो, अंधेरे में हो, हिंसक हो। तुम्हारे भीतर उन्होंने नरक को चित्रित किया है। अग्नि की लपटें ही लपटें बताई हैं। तुम्हारे भीतर स्वर्ग के राज्य की तरफ तो उन्होंने इशारा नहीं किया। कभी कोई जीसस, कभी कोई बुद्ध, महावीर इशारा करता है, लेकिन वह आवाज खो जाती है लाखों महात्माओं के शोरगुल में।

महात्मा का सारा धंधा इस बात पर निर्भर है कि तुम्हें निंदित करे। तुम जितने निंदित हो जाते हो, जितने भयभीत हो जाते हो, जितने घबड़ा जाते हो, उतने ही तुम महात्मा की शरण में चले जाते हो। तुम जितने अपराध— भाव से भर जाते हो, उतना ही तुम्हारा शोषण किया जा सकता है।

मंदिर—मस्जिदों में, गुरुद्वारों में झुके हुए लोग बड़ी गहन अपराध की भावना से झुके हैं। प्रार्थनाएं कर रहे हैं कि हम पतित हैं, तुम पतितपावन हो!

ध्यान रखना, अगर तुम पतित हो, तो पतितपावन से कभी तुम्हारा मिलन न होगा। क्योंकि समान से ही समान मिलता है। तुम अगर पतित ही हो, तो मिलन संभव नहीं है। तुम्हें भी पतितपावन होना पड़ेगा। परमात्मा से मिलना हो, तो परमात्मा की उदभावना तुम्हें अपने भीतर भी करनी होगी। वही तुम्हारी पात्रता बनेगी। जिस दिन तुम भी इस उदघोष से भरोगे कि मैं भी परमात्मा हूं......।

यह कोई अहंकार नहीं है। यह सीधा सत्य है। तुम भी परमात्मा हो, उसी के अंश हो। छोड़ो निंदा, छोड़ो अपने प्रति दूषित—कलुषित भाव। भूलो नरक को।

जैसे—जैसे तुम अपने प्रति सदभाव से भरोगे, अपने को स्वीकार करोगे, वैसे—वैसे तुम पाओगे कि स्वर्ग के राज्य के द्वार खुलने लगे। और बड़ा चमत्कार तो यह है कि जितना तुम अपने को पतित समझोगे, उतने पतित होते जाओगे। क्योंकि तुम्हारे विचार ही तो तुम्हारे जीवन को निर्मित करते हैं। तुम जितना अपने को बुरा समझोगे, उतना अपने आचरण में अपने को बुरा तुम्हें सिद्ध करना भी पड़ेगा, नहीं तो खुद की ही समझ गलत होने लगेगी।

तुम अपने को बेईमान समझते हो, इससे और बेईमानी पैदा होती है। और बेईमानी पैदा होती है, तुम अपने को और बेईमान समझते हो। उससे और बेईमानी पैदा होती है।

मनसविद कहते हैं कि अगर पापी व्यक्ति को भी, बुरे व्यक्ति को भी सारे लोग यही याद दिलाएं कि तू पापी नहीं है; उसके चारों तरफ की हवा उससे एक ही बात कहे कि तू परमात्मा है, पुण्यात्मा है। अगर पाप हो भी गया है, तो वह कृत्य है एक, वह तेरा स्वभाव नहीं है। वह भूल है, वह तेरा कोई स्वरूप नहीं है।

हजार काम आदमी कर रहा है, एक भूल हो जाती है, इससे कोई पापी नहीं हो जाता! कभी कोई आदमी बीमार हो जाता है, इसलिए बीमारी तुम्हारा स्वभाव नहीं हो जाती, कि कभी बुखार आ गया था, तो तुम्हारा बुखार स्वभाव हो गया! कि अब तुम जब भी मंदिर में जाओ तब भगवान को कहो कि मैं बुखार हूं और तुम महा चिकित्सक हो!

यह बकवास बंद करो। कभी आदमी बुखार से भर जाता है, कभी क्रोध से भी भर जाता है, पर ये दुर्घटनाएं हैं, ये तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं। ये !भूल—चूक हैं ज्यादा से ज्यादा, अपराध इसमें कुछ भी नहीं है। कमजोरियां होंगी, पाप कुछ भी नहीं है। इन्हें गौण करो, इन पर ज्यादा ध्यान मत दो। अगर तुमने इन्हीं पर ध्यान दिया, तो इन्हीं को पोषण मिलेगा।

तुम ध्यान तो अपने स्वभाव पर दो, अपने निर्विकार पर दो, अपने निर्दोष पर दो। धीरे— धीरे तुम पाओगे, अपने ही प्रेम में गिरने लगे। अपने ही प्रेम में गिरने लगे, अपने में ही रस आने लगा, अपने ही जीवन का अंतर्गीत उठने लगा, अपने भीतर ही सुवास अनुभव होने लगी। और जैसे ही भीतर सुवास अनुभव होगी, फिर बढ़ती चली जाती है। फिर तुम्हारे जीवन—चेतना की धारा बदल जाती है।

ज्ञानी तो एक ही बात दोहराते हैं, तत्वमसि श्वेतकेतु! तू भी वही है श्वेतकेतु। जो वहां आकाश में है, वही तेरे अंतर—आकाश में है। उसको हीन मत कर, उसको छोटा मत मान, उसकी निंदा मत कर। क्या फर्क पड़ता है कि तुम्हारे भीतर के परमात्मा ने एक दिन पान खा लिया, कोई पाप नहीं हो गया। कि एक सुंदर स्त्री को राह से निकलते देखकर तुम्हारे भीतर के परमात्मा पर थोड़ी—सी बदली छा गई; कुछ पाप नहीं हो गया। सूरज पर इतनी बदलिया छाती रही हैं, इससे कोई सूरज का प्रकाश नष्ट नहीं हो जाता है। इससे सूरज कोई चिल्ला—चिल्लाकर रो—रोकर छाती नहीं पीटता है कि मेरे चारों तरफ बदलिया छा गईं, मैं महापापी हो गया। सूरज के सूरजपन में कोई फर्क नहीं आता। बदलिया आती हैं, चली जाती हैं, सूरज का सूरजपन शाश्वत है।

तुम्हारा परमात्म— भाव शाश्वत है। जिस प्रेम से तुमने मेरी तरफ देखा है, उसी प्रेम से तुम अपनी तरफ देखो। मेरे पास तुम अगर प्रेम करना ही सीख लो, बस काफी है—अपने को प्रेम करना। यह बात उलटी लगेगी, क्योंकि तुम्हें तो

महात्मा समझाते हैं, दूसरों को प्रेम करो। मैं तुम्हें समझाता हूं अपने को प्रेम करो। क्योंकि जिसने अपने को नहीं किया, वह दूसरे को करेगा कैसे! उस करने में कहीं न कहीं धोखा होगा। जब घर में ही रोशनी नहीं है, तो तुम उसे दूसरे पर कैसे डालोगे? भीतर का दीया जलता हो, तो किसी दूसरे की आंख में भी उस ज्योति की झलक आ सकती है। भीतर का दीया ही न जलता हो, तो तुम दूसरों पर कैसे रोशनी डालोगे?

मैं तुमसे नहीं कहता, दूसरों को प्रेम करो। उससे ही तुम भटके हो। मैं तुमसे कहता हूं तुम अपने को प्रेम करो। तुम जिस दिन अपने को प्रेम करोगे, तुम पाओगे, दूसरे को प्रेम करने के अतिरिक्त अब कोई उपाय न बचा। तुम्हारे भीतर प्रेम की लहरें उसके अतिरिक्त तुम्हारे पास कुछ बचा नहीं जो तुम दूसरे मैं तुमसे कहता हूं स्वार्थी बनो। तुम्हें परार्थी बनाने वालों ने तुम्हें बिलकुल बिगाड़ दिया है। मैं तुमसे कहता हूं स्वार्थी बनो। क्योंकि स्व का अर्थ जान लेना ही धर्म है, और कुछ भी नहीं। स्वार्थ धर्म है।

लेकिन तुम घबड़ाते हो स्वार्थ शब्द सुनकर ही। यह तो बात ही पाप की हो गई। परार्थ! और जिसने जीवन में स्वार्थ न साधा, उसके जीवन में परार्थ कैसे आएगा? जो अपना ही न हो पाया, वह किसका हो पाएगा! जो अपने को भी गरिमा और गौरव से न भर पाया, वह किसके गौरव के गीत गा सकेगा! उसके तो जीवन में बीज ही नहीं है, वृक्ष की तो बात ही छोड़ दो। भूमि पर आधार ही न रख रहे हो, भवन कहां खड़ा होगा!

गुरु के पास अगर कोई एक घटना घटनी चाहिए, तो वह यह है कि तुम गुरु के प्रेम से धीरे— धीरे समझो, अपना प्रेम। गुरु को बाहर देखो, और गुरु वही है, जो तुम्हें धीरे— धीरे तुम्हारे प्रेम में डाल दे। और एक दिन तुम्हारे पैरों में वह गति आ जाए और तुम्हारी आंखों में वह रोशनी आ जाए और तुम्हारा हृदय एक नए अहोभाव से धड़कने लगे।

तब तुम पाओगे कि जीवन की पूरी प्रक्रिया और हो गई। कल तक तुम भूलों पर ध्यान देते थे, अब तुम स्वभाव पर ध्यान देते हो। जिसको तुम ध्यान देते हो, वह परिपुष्ट होता है। जहां ध्यान जाता है, वहीं तुम्हारी जीवन— धारा पोषण करती है। भूल पर ध्यान दोगे, भूलें बढ़ती जाएंगी; भूल परिपुष्ट होंगी। ध्यान भोजन है। भूल को गौण करो। ध्यान स्वयं पर दो, अस्तित्व पर दो। कृत्य पर नहीं, स्वभाव पर। कृत्य में भूल हो सकती है, तुम्हारे स्वभाव में तो अहर्निश परमात्मा वास कर रहा है। वहा कभी कोई भूल नहीं हुई। तुम्हारे होने में तो कोई भी भूल नहीं है, तुम्हारे करने में भूल हो सकती है।

करने की भूल सपने से ज्यादा नहीं है। जैसे रात तुमने सपना देखा कि किसी की हत्या कर दी। अब सुबह तुम छाती पीटकर रोते नहीं। न ही तुम चिल्लाते फिरते हो कि मैं महापापी हूं। सपना सपना था। कृत्य सपने से ज्यादा नहीं है, यही माया का सिद्धांत है। कि जो तुम करते हो, वह सपने से ज्यादा नहीं है; जो तुम हो, वह सत्य है। जो तुम करते हो, वह तो सपना है, वह तो विचार की तरंगें हैं। आएंगी, चली जाएंगी। तुम उनके पार अछूते रह जाओगे।

यह ठीक ही लगता है। मेरी ओर देखने से तुम्हें अगर निष्काम कर्म का चमत्कार नजर आता है और अपनी तरफ देखने पर असंभावना दिखाई पड़ती है, तो उसका कुल कारण सीधा—साफ है। तुम जिस भाव और प्रेम से मेरी तरफ देखते हो, उसी भाव और प्रेम से तुमने अपनी तरफ नहीं देखा। जिस भाव से तुमने मेरे चरण छुए हैं, उसी भाव से तुमने अपने चरण नहीं छुए।

जिस भाव से तुम मेरे सामने झुके हो, उसी भाव से अपने सामने भी झुक जाओ। क्योंकि मैं जो तुम्हारे बाहर हूं वही तुम्हारे भीतर भी है।

कभी तुम खयाल करो, अगर तुम अपने ही चरण छूने को झुक जाओ, तो तुम्हारे जीवन में कैसी क्रांति न घट जाएगी! तब तुम अपने भीतर परमात्मा को सम्हालकर चलोगे, जैसे गर्भवती स्त्री चलती है। एक नए जीवन का भीतर आविर्भाव हुआ है, एक—एक कदम सम्हालकर रखती है, होश से रखती है। उसकी सारी जीवन— धारा नए आने वाले शिशु के आस—पास घूमने लगती है, परिक्रमा करने लगती है। वह नया आने वाला जन्म मंदिर जैसा हो जाता है, उसके चारों तरफ परिक्रमा चलने लगती है।

तुम अपने ही पैर छूकर किसी दिन देखो; कभी अपने ही सामने सिर झूकाओ। और तुम बडे हैरान होओगे कि भीतर विराजमान है सम्राटों का सम्राट। तुम व्यर्थ ही भिखारी बने थे।

लेकिन तुम्हें भिखारी बनाया भी गया है। क्योंकि जब तक तुम भिखारी न बन जाओ, तब तक पुरोहित का व्यवसाय नहीं चल सकता। तुम भिखारी बनो, तो ही मंदिर में जाओगे। अगर तुम सम्राट हुए, तो तुम स्वयं मंदिर हो गए। अगर तुम भिखारी बनो, तो ही तुम गुरुओं को खोजोगे। अगर तुम स्वयं सम्राट हो गए, तो गुरु को खोजने की क्या जरूरत रह जाएगी!

यह धर्म है, इतना विराट जाल चलता है धर्म का, वह तुम्हारे भिखमंगेपन से चलता है। इसलिए धर्म तुम्हें समझाए जाता है—तथाकथित धम— कि तुम पापी हो, महापापी हो, तुम जमीन पर बोझ हो। तुमने उसको स्वीकार कर लिया है। बचपन से यही बात तुम्हें समझाई गई है।

बच्चा पैदा होता है। और दुनिया में एक बड़ी से बड़ी दुर्घटना घटनी शुरू हो जाती है। जैसे ही बच्चा पैदा होता है, मां—बाप उसके होने पर जोर नहीं देते, उसके कृत्य पर जोर देते हैं। जैसे बच्चा अगर कुछ करता है, तो वे कहते हैं, गलत किया। कुछ और करता है, तो कहते हैं, ठीक किया। जब बच्चा ठीक करता है, तो वे उसे प्रशंसा देते हैं, मिठाई देते हैं, खिलौने देते हैं। जब बच्चा गलत

करता है, तो पीटते हैं, मारते हैं।

बच्चे को पहले तो समझ में नहीं आता, क्योंकि बच्चे की भाषा अस्तित्व की होती है, करने की नहीं होती। वह समझ ही नहीं पाता कि मामला क्या है! कभी पीटते हैं, कभी मिठाइयां देते हैं। मैं तो वही हूं। लेकिन कभी पीटने लगते हैं, कभी चिल्लाने लगते हैं, कभी बड़े प्रसन्न होकर गले लगा लेते हैं! बच्चा बड़ी विडंबना में पड़ जाता है। उसका मन समझ ही नहीं पाता कि यह राज क्या है! कौन सी तरकीब है, जिससे ये सदा प्रसन्न रहें! क्योंकि इनके ऊपर वह निर्भर है।

तो वह धीरे— धीरे वही काम करने शुरू कर देता है, जिनमें प्रशंसा पाता है; और वे काम बंद करने लगता है, जिनमें अप्रशसा मिलती है। न केवल बंद करने लगता है, बल्कि दबाने लगता है, क्योंकि उनको भी करने की भावना मन में उठती है। उनका भी कोई नैसर्गिक अर्थ है। करना चाहता है, लेकिन करता नहीं। फिर स्वात में, अकेले में करने लगता है उन्हीं कर्मों को, उन्हीं कृत्यों को। तब ग्लानि पैदा होती है कि मैं अपराध कर रहा हूं मैं बहुत बड़ा पाप कर रहा हूं।

फिर एक बात सूत्र की तरह साफ हो जाती है हर बच्चे को। और जिस दिन यह बात साफ हो जाती है, समझो उसी दिन बच्चा मर जाता है; उसी दिन से बचपन की सरलता, निर्दोषिता मर गई; उसी दिन से बच्चे में विकार पैदा हो गया। वह क्या है धारणा?

वह धारणा यह है कि मैं जैसा हूं वह स्वीकृत नहीं। स्वीकार होने के लिए मुझे कुछ करना पड़ेगा, तब मैं स्वीकार हो सकता हूं। मैं जैसा हूं वैसा प्रेम के योग्य नहीं हूं। प्रेम के योग्य होने के लिए कुछ शर्तें मुझे पूरी करनी पड़ेगी, अन्यथा मैं घृणा के योग्य हो जाऊंगा।

बस, यहीं भूल शुरू हो गई। फिर वह भूल तुम्हारा पीछा करती है। पहले मां—बाप उसे पैदा करते हैं, फिर पंडित—पुरोहित उसे बढ़ाते हैं, फिर स्कूल के शिक्षक हैं, राजनीतिज्ञ हैं, महात्मा हैं। फिर पूरा तुम्हारा जीवन का जाल एक ही बात के इर्द —गिर्द घूमता रहता है कि तुम जैसे हो, वैसे स्वीकृत नहीं हो, तुम्हें कुछ करना होगा। होना काफी नहीं है, कृत्य का मूल्य है। और कृत्यों में भी भेद हैं। कुछ कृत्य पाप हैं और कुछ कृत्य पुण्य हैं। और कभी—कभी तो बिलकुल साधारण से कृत्य भी......।

कल एक युवक मुझे पूछ रहा था। वापस लौटता है डेनमार्क। वह मुझसे पूछने लगा कि यहां भारत में तो मैं अंगुलियां चटकाना सीख गया हूं। और मुझे अच्छा भी लगता है चटकाने से। और

भारत में इसका कोई विरोध भी नहीं करता, लेकिन पश्चिम में अंगुलियां चटकाना बहुत बुरा समझा जाता है। तो जब मैं वापस जाऊंगा, मैं झंझट में पड़ने वाला हूं। अगर मैंने अंगुलियां चटकाईं, तो लोग इसको बुरा समझते हैं। यह अपशगुन है।

पूरब में तो इसका कोई विरोध नहीं है, बल्कि उपयोग है इसका। जब भी तुम थके होते हो, अंगुलियां चटका लेते हो, हाथ फिर से ऊर्जा से भर जाते हैं, हाथ फिर ताजे हो जाते हैं। लेकिन पश्चिम में इसका विरोध है। वह विरोध भी इसी कारण है। कारण वही है कि तुम जब किसी के सामने हाथ चटकाते हो, तो इसका मतलब यह है कि वह तुम्हें थका रहा है। तुम ऊब जाहिर कर रहे हो। कोई तुमसे बात कर रहा है और तुम अंगुलियां चटका रहे हो, इसका मतलब यह है कि तुम जम्हाई ले रहे हो उसके मुंह के सामने, जो कि अपशगुन है, सुसंस्कार नहीं है।

दोनों के पीछे कारण तो वही है, लेकिन एक तरफ उसको स्वीकार कर लिया गया है, एक तरफ अस्वीकार कर दिया गया है। तो पश्चिम में अगर अंगुली चटकानी है, तो वह युवक मुझसे बोला, तो फिर मुझे एकांत में ही चटकानी पड़ेगी। वह मैं सीधे सबके सामने नहीं चटका सकता।

साधारण—सा कृत्य, निर्विकार, जिसका कोई न किसी को नुकसान पहुंच रहा है, न किसी को हानि हो रही है, वह भी स्वीकार—अस्वीकार की दुनिया में तुलता है। तुम ऐसी—ऐसी बातों को स्वीकार—अस्वीकार करते हो, जिनका कोई भी निहित मूल्य नहीं है।

पर इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे के भीतर एक दरार पड़ गई। वह आधा अस्वीकृत हो गया, आधा स्वीकृत हो गया। फिर वह यह जानकर भी हैरान होता है कि कभी—कभी वही कृत्य दूसरों के सामने अस्वीकार किए जाते हैं, घर के ही लोगों के सामने अस्वीकार नहीं किए जाते।

एक बच्चा खेल रहा है, दौड़ रहा है, ऊधम कर रहा है। परिवार के लोग कोई फिक्र नहीं करते, लेकिन घर में मेहमान आ रहे हैं कि उसे डांट—डपट शुरू हुई। उसकी समझ के बाहर होता है कि जो अभी क्षणभर पहले बिलकुल ठीक था, वह क्षणभर बाद अचानक गड़बड़ क्यों हो गया! मेहमान के आने से क्या फर्क पड़ रहा है! इसका मतलब यह हुआ कि तुम एक और धारणा उसके भीतर पैदा कर रहे हो, कि तुम एकांत में एक तरह से हो सकते हो, दूसरों के सामने दूसरी तरह से होना है। तुम एक झूठा आदमी पैदा कर रहे हो, जिसमें एक झूठा चेहरा लगाकर जाना पड़ेगा। संसार में जाना है, बाजार में जाना है, समाज में जाना है, तो तुम्हें बहुत—से मुखौटे उपयोग करने पड़ेंगे।

इन्हीं मुखौटों में तुम्हारी आत्मा खो गई है। और एक बहुत बहुमूल्य बात तुम्हें विस्मृत हो गई है कि तुम जैसे हो, परमात्मा को वैसे ही स्वीकृत हो। अन्यथा तुम होते ही नहीं। उपनिषदों का यह वचन, तत्वमसि श्वेतकेतु! इसी बात की उदघोषणा है। इस वचन पर पूरा का पूरा शिक्षाशास्त्र रूपांतरित हो सकता है। इस एक वचन पर पूरी दूसरी तरह की संस्कृति निर्मित हो सकती है।

इस वचन का मतलब यह है कि हे श्वेतकेतु, तू जैसा है, वैसा ही परमात्मा है। तुझे परमात्मा होने के लिए कुछ करना नहीं है। और तू जो करता है, उसकी तेरे परमात्मा होने से कोई संगति—असंगति नहीं है।

इससे क्या मैं यह कह रहा हूं कि बच्चों को हम कहें कि तुम्हें जो करना है तुम करो? नहीं, वह तो संभव न होगा, व्यावहारिक भी न होगा। बच्चे को हमें यह धारणा देनी चाहिए कि तुम तो स्वीकृत हो, तुम्हारे प्रति हमारा प्रेम तो बेशर्त है। तुम्हारे करने, न करने से तो हमारे प्रेम में कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन हम तो तुम्हें प्रेम करते हैं, यह सारी दुनिया तुम्हें प्रेम नहीं करती। इस दुनिया से अगर तुम्हें प्रेम पाना हो, तो तुम्हें कृत्य और अकृत्य का खयाल रखना होगा।

लेकिन हमारी तरफ से तुम पूरे स्वीकृत हो। तुम अगर पाप भी करोगे, महापाप भी करोगे, तो भी हमारे प्रेम की धारा में क्षणभर भी बूंदभर की भी कमी न होगी। हम तुम्हें वैसे ही प्रेम किए चले जाएंगे। तुम चाहे मंदिर में विराजमान हो जाओ सिंहासन पर और चाहे कारागृह में बंद रहो, हमारा प्रेम तुम्हारे प्रति एक—सा रहेगा। प्रेम से तुम्हारे कृत्यों का कुछ लेना—देना नहीं है।

लेकिन दुनिया को तुमसे कोई प्रेम नहीं है। दुनिया को तुम्हारे कृत्यों से मतलब है। सारी दुनिया तुम्हारे माता—पिता नहीं हैं, न तुम्हारे मित्र हैं, न तुम्हारे प्रेमी हैं। वहां तो तुम जाओ, तो उनसे तुम्हारा संबंध कृत्य का है। हमसे तुम्हारा संबंध होने का है।

एक बार बच्चे को यह पता चल जाए कि उसका होना पूरा का पूरा स्वीकार करने वाला भी कोई है, तुमने उसके जीवन से निंदा हटा दी। तब उसके जीवन में कभी भी आत्मनिंदा न होगी।

मैं सदगुरु उसी को कहता हूं कि जो मां—बाप से नहीं हो पाया, वह कर दे। तुम उसके पास आओ, और वह तुम्हारी निंदा न करे। रोज घटना घटती है। परसों एक युवक ने आकर कहा कि मुझे शराब पीने की आदत पड़ी है। वह बहुत घबड़ाया हुआ था। शराब छूटती नहीं है।

तो मैंने उसको कहा, तू फिक्र मत कर, ऐसी छोटी—सी आदत के लिए इतनी क्या फिक्र! इतनी क्या चिंता लेनी! शराब ही पीता है न, कोई किसी का खून तो नहीं पी रहा!

उसका सिर जो नीचे झुका था, ऊपर उठ गया। उसने कहा कि नहीं, इसमें किसी की हानि नहीं कर रहा हूं; अपनी ही हानि कर रहा हूं। लेकिन छूटती नहीं।

मैंने कहा, तू उस पर ध्यान ही मत दे। तू ध्यान पर ताकत लगा। यह शराब को छोड़ने का खयाल ही गलत है। दुनिया में छोड़ने की बात ही गलत है। दुनिया में पाने की बात करनी चाहिए। और जब भी तुम विराट को पा लोगे, क्षुद्र छूट जाएगा। श्रेष्ठ को पा लोगे, निकृष्ट छूट जाएगा। तू शराब इसीलिए पी रहा है कि तेरे भीतर कोई समाधि की गहरी आकांक्षा है। तू जानता नहीं कैसे समाधि लगे, इसलिए गलत ढंग से उसको लगाने की कोशिश कर रहा है।

शराब का मतलब ही केवल इतना है कि आदमी डूबना चाहता है। इसलिए तो फकीरों ने, संतों ने परमात्मा तक को शराब कहा है। कबीर ने कहा है, सकल कलारी भई मतवारी, मधुवा पी गई बिन तौले। मधुशाला पूरी की पूरी पागल हो उठी कि बिना तौले लोग शराब पी गए।

अब परमात्मा की शराब भी कोई तौल—तौलकर पीनी पड़ती है! वह भी कोई तौलने की बात है! वह तो जब पी गए, तो पी गए; पूरी पी गए।

संतों ने परमात्मा को शराब कहा है, समाधि को शराब कहा है। कारण है। शराब में कुछ बात है।

मेरे देखने में यही आया है कि जो लोग भी शराब की तरफ उत्सुक होते हैं, वे जरा—सी चूक कर रहे हैं; बड़ी जरा—सी चूक। उन्हें ध्यान की तरफ उत्सुक होना था। उनकी गहरी आकांक्षा ध्यान की है।

इसलिए मेरे अनुभव में ऐसा आया है कि जिसने कभी शराब नहीं पी है, वह शायद ध्यान कर भी न पाए। उसके भीतर आकांक्षा नहीं है। वह शराब तक नहीं पीया है, ध्यान क्या खाक करेगा! उसे बेहोश होने की, मस्त होने की धारणा ही नहीं है। डूबने का उसने मजा ही नहीं जाना है, उसको रस ही नहीं आया है, स्वाद ही नहीं पकड़ा है।

तो मेरे पास उस तरह के लोग भी आ जाते हैं। वे कहते हैं, हम शराब भी नहीं पीते, सिगरेट भी नहीं पीते, पान भी नहीं खाते, शाकाहारी हैं, समय पर सोते हैं, समय पर उठते हैं, लेकिन जीवन में कोई आनंद नहीं है।

क्या तुम सोचते हो, इन सब बातों से जीवन में आनंद होने का कोई भी संबंध है! तुम सिगरेट न पीयो, इससे क्या आनंद होने का कोई संबंध है? सिगरेट न पीने से आनंद होने का कौन—सा संबंध है? किस मूढ़ ने तुम्हें समझाया कि तुम सुबह ठीक रोज समय पर उठ आते हो, इससे तुम्हारे जीवन में कोई आनंद हो जाएगा! नहीं, तुम्हें पता ही नहीं है।

शराबी मुझे स्वीकृत है, क्योंकि मैं जानता हूं कि उसके शराब के कृत्य में भूल हो सकती है, लेकिन शराब की आकांक्षा में भूल नहीं है। उसने गलत शराब चुन ली है, इतनी भर भूल है। उसे ठीक शराब चुननी थी, वह हम चुना देंगे, वह हम उसे पकड़ा देंगे। वह ठीक मधुशाला में आ गया, अब भाग न पाएगा।

वह शराबी युवक मुझसे कहने लगा कि यही मुसीबत है। आपसे बचने का उपाय नहीं है। कई दफे सोचता हूं? छोड़ दूं संन्यास, शराब नहीं छूटती, संन्यास छोड़ दूं। लेकिन कैसे छोडूं?

मैं शराब छोड़ने को कहता भी नहीं। मैं कहता हूं हम बड़ी शराब बनाने की कला सिखाते हैं, और घर—घर भट्टी खोलने की कला सिखाते हैं। अपनी ही बना लो और पी लो, और बिना तौले पी जाओ। छूट जाएगी शराब।

मेरे देखे, गलत कृत्य सिर्फ इसीलिए जीवन में हैं, क्योंकि उनके द्वारा तुम कुछ पाना चाहते हो; तुम्हें होश नहीं है, वह उनसे मिलेगा नहीं।

शराब से कहीं समाधि मिली है? थोड़ी देर के लिए विस्मरण मिलेगा और बड़ा महंगा। शरीर को नुकसान होगा, मन को नुकसान होगा। और यह भी संभावना है कि अगर यह बहुत ज्यादा शराब चलती रही, चलती रही, तो तुम्हारा होश इतना खो जाए कि तुम्हें समाधि की तरफ जाने में पैर ही डगमगाने लगें। उस तरफ तुम कभी जा ही न सको।

कृत्य का कोई बहुत मूल्य नहीं है, तुम्हारे होने का मूल्य है। तुम्हारा होना इतना मूल्यवान है, इतना परम मूल्य है उसका कि तुम क्या करते हो, इसका हम कहां हिसाब रखें! उस पर ध्यान देते हैं भीतर, तो परमात्मा खड़ा दिखाई पड़ता है, हाथ में भला हो कि तुम सिगरेट पी रहे हो। अब सिगरेट पर ध्यान दें कि भीतर के परमात्मा पर ध्यान दें।

पंडित—पुरोहित का जोर हाथ की सिगरेट पर है। ज्ञानियों का जोर भीतर के परमात्मा पर है।

हम तो भीतर के परमात्मा को पुकारेंगे। अगर वह पुकार सून ली गई, सिगरेट हाथ से छूट जाएगी। वह छूट जानी चाहिए। छोड़ने की जरूरत नहीं आनी चाहिए, छूट जानी चाहिए।

हम तो भीतर की शराब पिलाके, बाहर की छूट जाएगी। छोड़ने के लिए हमारी कोई जल्दी भी नहीं है, कोई आग्रह भी नहीं है। छूटनी चाहिए। यह सहज ही फलित होगा। यह तुम्हारा कृत्य नहीं होगा।

जिस आंख से तुमने मेरी तरफ देखा है, उसी आंख से अपनी तरफ देखो। और जिन हाथों से और जिस श्रद्धा से तुमने मेरे पैर छुए हैं, उसी श्रद्धा और उन्हीं हाथों से अपने पैर छुओ। मैं तुम्हारे भीतर भी हूं। बस, उसी दिन रूपांतरण शुरू हो जाता है।

दूसरा प्रश्न : जिसके जीवन में सुबह घट जाए, क्या उसके जीवन में फिर सांझ नहीं आती?

जिसके जीवन में सुबह घट जाए, उसके जीवन में सांझ तो आती है, लेकिन साझ जैसी मालूम नहीं पड़ती। जिसके जीवन में आनंद घट जाए, उसके जीवन में भी दुख आता है, लेकिन दुख जैसा मालूम नहीं पड़ता।

बुद्ध के पैर में भी कांटा चुभे, तो पीड़ा होगी। शायद तुमसे थोडी ज्यादा ही हो, क्योंकि तुम्हारी संवेदना बुद्ध जैसी नहीं हो सकती। बुद्ध की संवेदनशीलता तो बिलकुल शुद्ध है, तुम्हारी संवेदनशीलता तो कठोर है। बुद्ध के पैर में कांटे का चुभना तो कमल की पखुडी में काटे का चुभना है। तुम्हारा पैर तो जड़ है। बुद्ध को पीड़ा तो होगी, और पीड़ा नहीं होगी। इस विरोधाभास को ठीक समझ लेना चाहिए।

बुद्ध पीड़ा को तो जानेंगे, लेकिन बुद्ध को पीड़ा नहीं होगी। सांझ तो आएगी, लेकिन सुबह बनी रहेगी। सांझ सुबह के चारों तरफ आ जाएगी, लेकिन सुबह को स्थानांतरित न कर पाएगी। सुबह की जगह न आएगी सांझ। सुबह तो जलती ही रहेगी भीतर। बुद्ध का आनंद तो वैसा का वैसा बना रहेगा। इस पीड़ा की बदली से कोई भी फर्क न पड़ेगा।

पीड़ा आएगी, पीड़ा का पता भी चलेगा। काटा चुभ रहा है, दर्द दे रहा है, यह सब होश होगा। बुद्ध को न होगा, तो यह होश होगा! थोड़ा ज्यादा ही होगा, क्योंकि होश पूरा है। जैसे सन्नाटा गहन हो, तो सुई भी गिर जाए तो आवाज सुनाई पड़ती है। ऐसा सन्नाटा है बुद्ध का। वहां सुई भी गिरेगी, तो सुनाई पड़ेगी। तुम तो एक बाजार हो। वहां कोई बैड—बाजा बजाए, तब कहीं मुश्किल से तुम्हें सुनाई पड़ता है कि अच्छा, कुछ हो रहा है। तुम तो एक भीड़ हो। तुम्हारे भीतर छोटी—छोटी घटनाओं का तो पता ही नहीं चल सकता। सुई के गिरने का क्या खाक पता चलेगा! उसका कोई तुम्हें पता न चलेगा। लेकिन बुद्ध को पता चलेगा। पर पता चलेगा। बुद्ध उसके पार ही रहेंगे।

सुबह होने का अर्थ है, पार होने की कला। सुबह होने का अर्थ है, अतिक्रमण, ट्रांसेंडेंस। घट रही है पीड़ा, कांटा चुभ रहा है। लेकिन बुद्ध को नहीं चुभेगा; शरीर को ही चुभेगा। पीड़ा शरीर में ही घटेगी। बुद्ध दर्शक की तरह ही होंगे।

बुद्ध को ऐसी पीड़ा होगी, जैसी किसी और को होती हो। निश्चित ही, बुद्ध उपेक्षा न करेंगे, क्योंकि बुद्धत्व का अर्थ ही परम करुणा है। जिनकी करुणा दूसरे की पीड़ा पर होती है, क्या उनकी अपने शरीर पर करुणा न होगी? तुम्हारे पैर में कांटा चुभे, तो बुद्ध निकालने दौड़ आते हैं, तो अपने पैर में चुभेगा तो न दौडे जाएंगे? बराबर जाएंगे।

तुम जैसे दूर हो, ऐसे ही अपना शरीर भी दूर है। तुम जैसे पराए हो, ऐसा अपना शरीर भी पराया है। बुद्ध काटा भी निकालेंगे, पीड़ा भी होगी, और बुद्ध बाहर भी रहेंगे। यह घटना बुद्ध को डुबा न पाएगी। इससे उनका होश न खो जाएगा। ऐसा न होगा कि यह पीड़ा का बादल उनके होश को इस भांति छा ले कि होश का पता ही न रहे, पीड़ा ही रह जाए। यह न होगा। ' जिसके जीवन में सुबह हो गई, सांझ तो आती रहेगी, लेकिन साँझ सुबह को मिटा न पाएगी।

और यह बड़े मजे की बात है, जब भीतर सुबह होती है और बाहर सांझ होती है, तब भीतर की सुबह इतनी प्रगाढ़ होकर प्रकट होती है, जितनी कभी नहीं। क्योंकि अंधेरा और प्रकाश साथ—साथ होते हैं, अंधेरा पृष्ठभूमि बन जाता है। भीतर की ज्योति उस पृष्ठभूमि में बड़ी प्रखर होकर जलती है।

दिन में दीया जलाओ, कैसा मंदा—मंदा मालूम पड़ता है। फिर आने दो रात, घिरने दो अंधेरा, छा जाने दो सब तरफ गहन अंधकार, और दीए की रोशनी प्रगाढ़ होने लगती है। दीए में एक रूप—रेखा प्रकट होती है। जितना गहन हो जाता है अंधेरा चारों तरफ, दीए की ज्योति में उतना ही स्वर्ण बरसने लगता है।

पीड़ा के क्षणों में बुद्धत्व का दीया भी प्रगाढ़ होकर जलता है। जब आती है सांझ, तब सुबह और भी गहरी हो जाती है।

सुबह और सांझ तो चलती ही रहेंगी, जब तक शरीर है। क्योंकि सुबह और सांझ का संबंध शरीर से है। शरीर इस पृथ्वी का हिस्सा है। इस पृथ्वी पर सुबह और सांझ आती है, सुख—दुख आते हैं। इस पृथ्वी के हिस्से जब तक हम हैं, तब तक सुख—दुख आते रहेंगे। जब शरीर छूट जाता है किसी बुद्ध पुरुष का, तब फिर जो होता है, उसे सुबह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जब सांझ ही नहीं आती, तो अब इसको सुबह क्या कहना! फिर न तो सुबह आती है, न सांझ आती है।

इसलिए बुद्ध ने निर्वाण के दो चरण कहे हैं। एक, जो उनको चालीस वर्ष की उम्र में हुआ, तब वे निर्वाण को उपलब्ध हुई, समाधि को उपलब्ध हुए, सबुद्ध हुए, उन्होंने जाना। फिर चालीस वर्ष तक शरीर की यात्रा और भी जारी रही। इसी पृथ्वी पर रथ चलता रहा। इस पृथ्वी के ऊबड़—खाबड़ मार्ग पर रथ को नीचा—ऊंचा भी देखना पड़ा।

फिर हुआ महापरिनिर्वाण। तब देह भी छूट गई। देह के छूटते ही सुबह—सांझ दोनों चली गयीं। फिर तो एक ऐसे प्रकाश का आविर्भाव होता है, जिसको प्रकाश भी क्या कहें, क्योंकि उसका अंधेरे से कोई नाता ही नहीं है। फिर तो एक ऐसे जीवन का प्रादुर्भाव होता है, उसको जीवन भी कैसे कहें, क्योंकि उसका मृत्यु से कोई भी संबंध नहीं है। इसलिए बुद्ध उस संबंध में बिलकुल चुप रह जाते हैं, कुछ भी नहीं कहते। क्योंकि जो भी कहेंगे, उसी में भूल हो जाएगी।

हमारे सभी शब्द विरोधियों से बंधे हैं। कहो प्रकाश, अंधेरा याद आता है। कहो प्रेम, घृणा याद आती है। कहो मित्र, शत्रु की स्मृति बन जाती है। हमारे सब शब्द विरोधी से जुड़े हैं। कहो जीवन, मृत्यु खड़ी है। जो भी कहोगे शब्द में, उसका विपरीत शब्द ही उसकी सीमा बनाता है, परिभाषा बनाता है।

अगर तुमसे कोई पूछे, प्रकाश क्या है? तो तुम यही कहोगे न कि जो अंधेरा नहीं है। तो अंधेरा परिभाषा है, प्रकाश की! बड़ी बेबूझ दुनिया है! कहो, जीवन क्या है, तो तुम यही कहोगे न कि जो मृत्यु नहीं है। जीवन की परिभाषा मृत्यु से करनी पड़ती है!

हमारे सभी शब्द विपरीत से परिभाषा पाते हैं। इसलिए तो हम परमात्मा की परिभाषा नहीं कर सकते, क्योंकि उससे विपरीत कुछ भी नहीं है। वह अपरिभाष्य है। उसे हम भाषा में नहीं बांध पाते। बांधते ही भूल हो जाती है।

इसलिए ज्ञानी सतत कहते हैं कि जो कहा जा सके, वह फिर सत्य न रहा। जो नहीं कहा जा सकता—नहीं ही कहा जा सकता, किसी काल में नहीं कहा जा सकता—वही सत्य है। फिर भी ज्ञानी बोलते हैं। उनका बोलना तुम्हें जगाने के लिए है, सत्य कहने के लिए नहीं।

जैसे तुम सोए हो, सुबह हो गई, पक्षियों ने गीत गाए, सूरज उगने लगा, फूल खिले, गंध उठी, लोक रूपांतरित हुआ, रात का अंधेरा, तमस गया। तुम सोए पडे हो।

इस सोए हुए आदमी को कोई भी उपाय नहीं है समझाने का कि फूल गंध दे रहे हैं, पक्षी गीत गा रहे हैं, सूरज उगा है। इसकी आंखें बंद हैं। इसका होश खोया है। इसको बताने का कोई भी उपाय नहीं है कि सुबह हो गई है, जागो और देखो।

एक ही उपाय है, इसे हिलाओ, चौंकाओ, इसकी नींद तोड़ो। नींद तोड़ी, यह खुद ही देख लेगा।

सत्य कहा नहीं जा सकता। और जो भी कहा जाता है, वह सिर्फ तुम्हारी नींद को तोड्ने का उपाय है। खुल जाने पर सत्य तो तुम देखोगे, वह कभी भी किसी ने कहा नहीं है। सदा से सत्य अनकहा है और सदा अनकहा रहेगा। अच्छा ही है, क्योंकि शब्द तो बासे हो जाते हैं। कितने होंठों पर से गुजरते हैं, कितने गंदे हो जाते हैं! सत्य कुंआरा है। वह किसी होंठ से कभी नहीं गुजरा, कभी बासा नहीं हुआ। वह सिक्का हाथ—हाथ में चलता नहीं, और बासा नहीं होता। वह चला ही नहीं, वह ढला ही नहीं। वह शुद्ध सोना अपनी खदान में ही छिपा है और उसे हम कभी खोज नहीं पाते। कोई उपाय नहीं शब्दों से खोजने का, जब तक कि हम उसमें छलाग ही न ले लें।

सत्य तुम हो सकते हो, सत्य को जान नहीं सकते। सत्य की तरफ इशारे किए जा सकते हैं, सत्य कहा नहीं जा सकता।

तीसरा प्रश्न : आपने कल कहा, एक साधे सब सधै, कोई भी एक साध लो, सब सध जाता है। क्या कुछ भी न साधें, तब भी सब सध जाता है?

वह तो बहुत बड़ी साधना है, कुछ भी न साधें। अगर छ सध गया तो टक ००।

लेकिन तुम शब्दों की भ्रांति में मत पड जाना। कुछ भी न साधने का मतलब यह नहीं होता कि खाली बैठे रहना। क्योंकि खाली बैठने में तुम खाली ही कहा होते हो! हजार विचार चलते हैं। चुप बैठे होते हो, चुप कहां होते हो! मन तो गंथता ही चला जाता है। न मालूम कितनी कहानियां, न मालूम कितनी वासनाएं, न मालूम कितने जाल! कुछ न करते वक्त भी तुम कुछ नहीं करते हो? कितने कृत्य, कितनी बेचैनियां भीतर उबलती हैं!

कुछ न करना तुम्हारा अगर सच में ही कुछ न करना हो, तो परम दशा है। उससे ऊपर फिर कुछ भी नहीं। अगर तुम साध सको, न करने को साध सको, तो उससे ऊपर कोई भी साधना नहीं है। वह तो परम योग है। उस एक को साध लो। कुछ तो साधो, कुछ न करना ही साधो।

यह मत समझना कि जब कुछ नहीं करना है, तो हम जैसे थे वैसे ही रहेंगे। तब तुम धोखा दे रहे हो, तब तुम शब्द की आड़ में बचाव कर रहे हो।

एक जर्मन विचारक हेरिगेल एक झेन फकीर के पास तीर चलाना सीखता था, धनुर्विद्या सीखता था। उसके गुरु का कहना था, तीर ऐसे चलाओ कि तुम चलाने वाले न होओ। तीर को चलने दो, तुम मत चलाओ।

अब हेरिगेल जर्मन विचारक! सीधी बात है कि यह पागलपन की बात कर रहा है। तो हेरिगेल उससे कहता है, अगर मैं न चलाऊ, तो यह चलता नहीं। अगर मैं चलाऊ, तो तुम्हारी तृप्ति नहीं होती! तो करना क्या है? तुम कोई उपाय नहीं छोड़ते। अगर तुम कहते हो कि न चलाऊ, तो फिर मैं बैठ जाता हूं; फिर चलता ही नहीं। तब तुम कहते हो, बैठे—बैठे क्या कर रहे हो? उठो, साधो तीर को। अगर लगाता हुं, निशाना भी ठीक लग जाता है, तब भी तुम्हारी तृप्ति नहीं है। क्योंकि तुम कहते हो, तीर को चलने दो, चलाओ मत।

तीन साल मेहनत की गुरु के पास, थक गया। तीन साल लंबा वक्त है, और कोई परिणाम हाथ न आया। सौ प्रतिशत निशाने ठीक लगने लगे, लेकिन गुरु रोज इनकार किए चला जाता है कि नहीं, यह भी नहीं।

वह गुरु कहता, हमें निशाने से प्रयोजन नहीं है। तुम हो हमारा निशाना। हम तुम्हारी तरफ देख रहे हैं। तुम वहा देख रहे हो कि वह जो निशाना लगा है, उसकी तरफ। तुम सोचते हो, निशाना मार लिया तो बात हो गई। तीर चलाना तो तुम सीख गए, लेकिन ध्यान नहीं सीखे। ध्यान सीखने तुम आए हो। और हमारे लिए तीर चलाना तो सिर्फ ध्यान सिखाने का बहाना है। वह नहीं सीखा तुमने।

अब हेरिगेल निश्चित ही मुश्किल में पड़ गया होगा कि इस आदमी के साथ क्या करना। पश्चिम की एक सोचने की प्रक्रिया है। हेरिगेल को सर्टिफिकेट मिलना चाहिए, क्योंकि वह सौ प्रतिशत निशाने ठीक मारने लगा। अब और क्या जानने को बाकी रहा! और गुरु सर्टिफिकेट तो दूर, अभी यह भी नहीं मानता कि तुमने पहला कदम भी उठाया है।

तीन साल बाद वह थक गया। और उसने कहा, अब मैं जाता हूं। वह आखिरी दिन विदा लेने गया। चूंकि अब जा ही रहा था, इसलिए चिंता भी नहीं थी मन पर, जाकर बैठ गया कुर्सी पर, जहां गुरु दूसरे लोगों को तीर चलाना सिखा रहा था। बैठकर देखता रहा कि वे निपट जाएं, तो उनसे विदा ले लूं।

पहली दफा उसने गौर से देखा, क्योंकि अब अपनी कोई चिंता न थी। वह जो भीतर की दौड़ थी, वह तो बंद थी। अब जा ही रहे हैं, बात खतम हो गई। अब कुछ नाता न था। पहली दफे बिना लिपायमान हुए उसने देखा कि यह आदमी कैसे तीर चला रहा है। यह तो मैंने कभी खयाल ही न किया। यह तो कुछ और ही ढंग से चला रहा है! उसे पहली दफे अनुभव हुआ कि तीर चल रहा है, गुरु चला नहीं रहा है। रखता है, हाथ खींचता है; लेकिन गुरु वहा नहीं है। जैसे कोई दूसरी ही ऊर्जा चला रही है।

वह उठा। कहना ठीक नहीं है कि उठा, क्योंकि उसे पता ही नहीं कि वह कब उठ गया। गुरु के पास पहुंच गया। और उसने गुरु से प्रत्यंचा अपने हाथ में ले ली, तीर चढ़ाया। तीर छूटा भी न था और गुरु ने कहा, शाबास! बस, पर्याप्त है। निशाना लगे न लगे। समझ गए तुम। इसी दिन की प्रतीक्षा थी।

तीर अभी चला भी न था और गुरु तृप्त हो गया। तीन वर्ष में जो न हुआ, वह क्षण में हो गया।

पर हेरिगेल ने कहा, अब मैं कह सकता हूं कि वह बात ही अलग थी, अनुभव ही अलग था। इसके पहले तो मैं भी नहीं मान सकता था कि यह हो सकता है कि ऐसी आविष्ट दशा आ जाए, जब कि तुम नहीं करते और होता है!

मैं एक अमेरिकी साधक का जीवन पढ़ रहा था। वह एक सदगुरु को मिलने गया। अकारण पहुंच गया। कई बार अकारण घटनाएं घट जाती हैं। क्योंकि जब तुम कारण से जाते हो, तो तुम तने होते हो। जब तुम अकारण जाते हो, तो कोई तनाव नहीं होता।

वह ऐसे ही रास्ते से घूमने निकला था। एक जगह द्वार पर तख्ती लगी देखी कि कोई ध्यान केंद्र है। कभी उसकी ध्यान में उत्सुकता न रही थी। अचानक उस दिन उसे लगा कि आज घूमना छोड्कर भीतर जाकर देखा जाए, यहां क्या हो रहा है! ऐसे ही कुतूहलवश भीतर पहुंच गया।

वहां कोई दस—बारह लोग बैठे ध्यान करते थे। वह भी जाकर उनके पास बैठ गया। वह देखने लगा, क्या हो रहा है! वह किसी बड़े प्रयोजन से आया ही न था। गुरु ने उसकी तरफ देखा। उसकी आंखों में आंखें डालीं। उसे कुछ पता ही न था कि यह क्या हो रहा है, तो उसने भी गौर से गुरु की आंखों में आंखें डालकर देखा कि यह आदमी क्या देख रहा है। लेकिन उस क्षण कुछ हो गया। और एक ऐसा धक्का उसको पेट पर लगा, आनंद भी बहुत मालूम हुआ। लेकिन उस दिन से उसको पेट में एक पीड़ा शुरू हो गई। पांच—सात दिन तो वह परेशान रहा। डाक्टरों को दिखाया। उन्होंने कहा, कुछ दर्द हम तो नहीं पकड़ सकते! जहां से हुआ है, वहीं जाओ। उसने कहा, यह तो झंझट हो गई। मैं तो ऐसे अकारण ही, ऐसे ही चलते राह से कुछ उत्सुकतावश पहुंच गया था!

गुरु से मिलने गया। कहा कि पीड़ा हो रही है और मिटती नहीं। गुरु ने कहा, जैसे आई है, चली जाएगी; तुम फिक्र न करो।

यह बात उसे कुछ जंची नहीं। यह तो उपेक्षा हुई। और यह तो कोई रस ही न लिया इस आदमी ने। लेकिन अब कोई उपाय भी नहीं है। वह पीड़ा बढ़ती ही चली गई।

वह संगीत की साधना करता था; तबला सीखता था। कोई दो साल पीड़ा रही। क्योंकि चिकित्सक पकड़ न सकें, और गुरु के पास दों—चार बार गया, उसने ऐसी उपेक्षा की कि हो जाएगा। जैसे आया है, वैसे चला जाएगा। न तुमने अपनी तरफ से बनाया है, न तुम मिटा सकते हो। साक्षी रखो। यह तो ऐसा लगा, जैसे टालना है।

लेकिन एक दिन दो साल बाद, तबला बजा रहा था, अचानक उसने देखा कि कुछ घटना घटी। हाथ उसके अपने से चलने लगे, जैसे वह खुद नहीं चला रहा। आविष्ट हो गया। उसने पहली दफे तबले को बजते देखा अपने से, वह बजा नहीं रहा है! कोई आधा घंटे तक वह सुर— धुन बंधी रही। बडा आनंद अनुभव हुआ।

सुना था उसने कि ऐसा कभी घटता है संगीतज्ञ को, और तभी संगीत का जन्म होता है, जब संगीत का तो मिट जाता है, कोई विराट ऊर्जा पकड़ लेती है आविष्ट हो जाता है। तब वह खुद नहीं बजाता, कोई बजवाता है। तब तबले पर हाथ उसके नहीं पड़ते, किसी और के हाथ उसके हाथ से पड़ते हैं। ऐसा सुना था, भरोसा इसका था नहीं। लेकिन यह घटा।

आधे घंटे के बाद जब वह थककर लेट गया, क्योंकि बड़ा अनूठा अनुभव था, अचानक उसने पाया कि वह जो दर्द था पेट में, वह जा चुका है। वह जो दो साल तक पीछा नहीं छोड़ा, वह जैसे आया था, वैसे चला गया। और उस दर्द के साथ जीवन में से बहुत कुछ चला गया; जैसे उस दर्द में सभी कुछ जीवन का रोग इकट्ठा हो गया था।

न कुछ साधने का अर्थ होता है, तुम परमात्मा को द्वार दो। उसे आविष्ट होने दो। तुम जगह खाली करो। वह तुम्हारे सिंहासन पर विराजमान हो जाए।

अगर तुम न करना साध लो, तो जगत की सबसे बड़ी चीज साध ली। उससे बड़ी कोई भी साधना नहीं है। उसको ही ज्ञानियों ने सहज—योग कहा है।

कबीर कहते हैं, साधो सहज समाधि भली।

यह है सहज समाधि। तुम खाली हो। तुम सिर्फ परमात्मा को जगह देने के लिए आतुर हो, प्रतीक्षा करते हो। चलते हो तो सोचते हो, वही चले मेरे भीतर। भोजन करते हो तो सोचते हो, वही भोजन करे मेरे भीतर। सोते हो तो सोचते हो,

उसी के लिए सेज लगाऊं, वही सोए मेरे भीतर। ऐसे धीरे— धीरे तुम परमात्मा के मंदिर बनते जाते हो। तुम कुछ नहीं करते। तुम अपने करने को उस पर छोड़ते जाते हो।

एक ऐसी घड़ी आती है, महाघडी, जब तुम्हारा सब कृत्य उसका कृत्य हो जाता है। उस घड़ी ही समझना कि न करना सधा। उसके पहले न करना नहीं सधा। जब तक तुम्हारा कर्ता भीतर है, न करना कैसे सधेगा? कर्ता तो करवाता ही रहेगा।

यह कृष्ण की पूरी शिक्षा अर्जुन से यही है कि तू कर्ता मत बन। तू न करने में हो जा। उसी को साधने दे तेरे हाथ में प्रत्यंचा को, उसी को उठाने दे गांडीव को, उसी को चलाने दे तीर, उसी को लडने दे युद्ध, उसी को जीतने दे, उसी को हारने दे, तू बीच में मत आ। तू निमित्त मात्र हो जा।

चौथा प्रश्न: आप कहते हैं, जो व्यक्ति साक्षित्व को उपलब्ध होता है, उसकी समस्त वासनाएं और विकार मिट जाते हैं। तब क्या यह संभव है कि ऐसा मुक्त भी जैसे और विकारग्रस्त पुरुष हत्या वासनाजन्य कृत्य में उतर सके?

उतर तो नहीं सकता; स्वयं तो नहीं उतर सकता, लेकिन अगर परमात्मा की मर्जी हो, तो रोक भी नहीं सकता। क्योंकि जब तुम मिट ही गए, तो करने वाला भी न बचा, रोकने वाला भी न बचा। फिर जो हो, हो। फिर ऐसा व्यक्ति तो ऐसा हो जाता है, जैसे बादल। हवाएं जहां ले जाएं।

तुम यह नहीं कह सकते कि वह क्या नहीं कर सकता और क्या करेगा। वह बचा ही नहीं। उसके सारे विकार शून्य हो गए। वह तो खाली शून्य गृह हो गया। अब उसमें परमात्मा की हवाएं, जिस भांति बहे, बहे। न तो करने वाला कोई बचा, न रोकने वाला कोई बचा। रोकने वाला भी करने वाला ही है।

तो जरूरी नहीं है कि उससे ऐसे कृत्य हों, लेकिन अगर परमात्मा की मर्जी हो, तो होंगे। लेकिन तब वह यह नहीं कहेगा, मैंने किए हैं। न तो वह अपने कृत्यों से कोई गुण—गौरव लेगा और न अपने कृत्यों से कोई निंदा लेगा। न तो वह दान करते समय सोचेगा कि मैं कोई महान कार्य कर रहा हूं और न हिंसा करते वक्त सोचेगा कि मैं कोई महापातक कर रहा हूं। वह है ही नहीं। वह बीच से हट ही गया। अब परमात्मा की जो मर्जी, वह करवा ले।

संभव है कि परमात्मा को जरूरत हों—परमात्मा जब भी मैं कहता हुं, तो मेरा मतलब होता है समष्टि—यह सारे अस्तित्व को जरूरत हो, जरूरत हो कि कोई मिटाया जाए, जरूरत हो कि कोई हटाया जाए, तो वह काम में आ जाएगा। लेकिन इससे एक रेखा भी न खिंचेगी उसके भीतर कि मैंने कुछ किया।

वही तो कृष्ण की पूरी की पूरी इतनी—सी बात है अर्जुन के लिए कि तू बीच में मत आ। तू यह मत सोच कि तू मारेगा। तू यह मत सोच कि फल क्या होगा। तू छोड़ ही दे, सारी बात ही छोड़ दे। अगर उस घड़ी में छोड़ने के बाद जब अर्जुन ने कहा, मेरे सब संशय जाते रहे, हे महाबाहो, मेरे सब संदेह क्षीण हो गए, अगर उस क्षण में समष्टि की यही आकांक्षा होती कि वह संन्यस्त हो जाए, तो वह उठा होता, रथ से उतरा होता और जंगल चला गया होता।

वह नहीं थी इच्छा। जो अर्जुन सोच रहा था कि मैं करूं, वह समाष्ट की इच्छा न थी। इसलिए कृष्ण उसको कहे चले गए।

मैं निरंतर सोचता हूं कि अगर महावीर जैसा व्यक्ति होता अर्जुन की जगह, तो क्या कृष्ण इतनी बातें कहते! बिलकुल नहीं कह सकते थे। क्योंकि महावीर को देखकर ही वे समझ लेते कि यही अस्तित्व की घटना घट रही है, अस्तित्व यही चाहता है कि महावीर नग्न हो जाएं, जंगलों में भटकें। युद्ध महावीर के लिए नहीं है। वह उनका स्वधर्म नहीं है।

कृष्ण ने अर्जुन को देखकर गीता कही। महावीर को देखकर तो चुप ही रह गए होते। क्योंकि महावीर का जाना, महावीर का अपना जाना न था।

महावीर के जीवन में बड़ा मीठा प्रसंग है। वे संन्यस्त होना चाहते थे। उनकी मां ने कहा कि मेरे जीते नहीं। वे चुप हो गए। बात ही छोड़ दी संन्यास की। जैसे कोई आग्रह ही न था संन्यास का।

आग्रह तो अहंकार का होता है। संन्यास का भी क्या आग्रह! छोड़ने का भी क्या आग्रह! पकड़ने के आग्रह से जब छूट गए, तो छोड़ने का आग्रह भी छोड़ देना चाहिए। अगर कोई दूसरा होता, तो जिद पकड़ जाता। मां जितना रोकती, उतनी जिद बढ़ती। घर के लोग जितने परेशान होते, उतनी ही अकड़ आती कि मैं तो संन्यासी होकर रहूंगा।

दुनिया में सौ में से निन्यानबे संन्यासी, दूसरों की वजह से हो जाते हैं, रोकने वालों की वजह से। क्योंकि जब भी कोई रोकता है, तब बड़ा अहंकार को मजा आता है कि हम कोई महान कार्य करने जा रहे हैं।

लेकिन महावीर चुप ही हो गए। मां भी शायद सोची होगी कि यह भी कैसा संन्यास! एक बार कहा नहीं, कि चुप हो गया! सभी माताएं कहती हैं। यह कोई नई बात थी कि महावीर की मां ने कहा कि मत लो संन्यास मेरे जीते—जी। मैं मर जाऊंगी। ऐसा सभी माताएं कहती हैं। कोई मां मरी है कभी किसी के संन्यास लेने से! यह तो मा—बाप के कहने के ढंग हैं। इनका कोई मूल्य नहीं है। मां भी थोड़ी चिंतित हुई होगी कि यह भी संन्यास कैसा संन्यास था!

फिर मां मरी। मरघट से लौटते थे। रास्ते में अपने बड़े भाई को कहा कि अब तो ले सकता हूं? रास्ते ही में! अभी विदा ही करके लौटते थे। बड़े भाई ने कहा, यह भी कोई बात हुई? इधर मां मर गई है, इधर हम परेशान हो रहे हैं और तुम्हें संन्यास की पडी है! एक दुख काफी है, अब तुम और यह दुख मेरे ऊपर मत लाओ। चुप रहो, यह बात ही मत उठाना।

अब जब बड़े भाई ने कहा, चुप रहो, तो वे चुप हो गए। हमें भी लगेगा, यह भी कैसा संन्यासी है। यह तो होगा ही नहीं कभी, ऐसा अगर चला तो। क्योंकि कोई न कोई मिल ही जाएगा। बड़ा घर रहा होगा, बड़ा परिवार था। राज—परिवार था, संबंधी रहे होंगे। ऐसे अगर हर एक के कहने से रुके, तब तो जन्म—जन्म बीत जाएं, महावीर का संन्यास होने वाला नहीं। भाई ने भी सोचा होगा कि यह भी कैसा संन्यास है! एक दफा कहो नहीं कि यह चुप हो जाता है। यह जैसे रास्ते ही देखता है कि तुम रोक दो बस, हम रुक जाएं! मगर नहीं, बात कुछ और थी। महावीर आग्रही नहीं थे। संन्यास का भी क्या आग्रह करना! छोड़ने का भी क्या आग्रह करना! नहीं तो वह पकड़ने जैसा ही हो गया। संन्यास को भी क्या पकड़ना! जब संसार ही छोड़ दिया, तो संन्यास को क्या पकड़ना! तो वह ठीक।। लेकिन धीरे— धीरे घर के लोगों को लगा कि वे घर में हैं ही नहीं। रहते घर में हैं। भोजन करते, उठते—बैठते, लेकिन ऐसे शून्यवत हो रहे कि उनके होने का किसी को पता ही न चलता।

आखिर भाई और घर के लोग मिले। उन्होंने कहा, अब इसे रोकना व्यर्थ है। यह तो जा ही चुका। सिर्फ शरीर है घर में। शरीर को भी रोकने के लिए हम क्यों पापी बनें! नहीं तो कहने को होगा कि हमारी वजह से यह संन्यस्त न हुआ। और यह हो ही गया। यह यहां है नहीं। इसकी मौजूदगी यहां मालूम नहीं पड़ती। किसी को पता ही नहीं चलता महीनों, दिन बीत जाते हैं कि महावीर कहा है! वह अपने में ही समाया है।

तो घर के लोगों ने ही हाथ जोड़कर कहा कि अब तुम जा ही चुके हो, तो अब तुम हमको नाहक अपराधी मत बनाओ। अब तुम जाओ ही। अब तुम यहां हो ही नहीं, अब रोकें हम किसको! रोकना किसको है! जब उन्होंने ऐसा कहा, तो महावीर उठकर चल दिए।

ऐसे संन्यास को कृष्ण न रोक सकते थे। अर्जुन का संन्यास ऊपर—ऊपर था। वह घबड़ाकर भाग रहा था, जानकर नहीं। वह खुद भाग रहा था, परमात्मा उसे भगा नहीं रहा था। इसलिए जब उसके सब संशय गिर गए थे और जब उसने सब छोड़ दिया था, तब फिर जो घटित हुआ, हुआ। फिर वह न जा सका जंगल की तरफ, क्योंकि वह परमात्मा की मर्जी न थी।

कृष्ण का जो संघर्ष है अर्जुन से, वह अर्जुन की मर्जी के खिलाफ है, परमात्मा की मर्जी के पक्ष में है। वे इतना ही कह रहे हैं। कृष्ण ने भी न रोका होता, अगर सब संशय गिर जाने पर, अहंकार को अलग रख देने पर, अर्जुन उतरता,

चरण छूता और कहता कि अब जाता हूं; सब संशय समाप्त हुए, बात खतम हो गई, तो मैं जानता हूं कि कृष्ण रोक न पाते। न रोकने की कोई जरूरत रह जाती।

रोक हम उसी को सकते हैं, जो अपने से जा रहा हो। रोकने की जरूरत उसी को है, जो अस्तित्व के विपरीत जा रहा हो।

गीता को लोग समझ नहीं पाए। गीता को लोगों ने समझा कि यह युद्ध में जाने का संदेश है, गलत। गीता को लोगों ने समझा, यह संसार में अड़े रहने का संदेश है; गलत। एक तरफ यह गीता को मानने वालों की भूल है। दूसरी तरफ जैनों ने समझा कि यह गीता संन्यास के विरोध में है, गलत। कि गीता त्याग से बचाती है, यह भी गलत।

गीता कुल इतना कहती है कि परम की जो आकांक्षा है, तुम उसके साथ बहो, विपरीत मत बहो। फिर वह जो भी हो आकांक्षा। कभी संन्यास की होगी, महावीर के लिए संन्यास की थी; अर्जुन के लिए संन्यास की नहीं थी। जो परम की आकांक्षा हो।

नदी की धार के विपरीत मत बहो। नदी की धार के साथ हो रहो। फिर नदी पूरब जा रही हो, तो पूरब; और नदी पश्चिम जा रही हो, तो पश्चिम।

अब कुछ नदियां पश्चिम जाती हैं, कुछ पूरब जाती हैं। गंगा पूरब की तरफ भागी जा रही है, नर्मदा पश्चिम की तरफ भागी जा रही है। विपरीत नहीं हैं वे। जो आदमी गंगा में बह रहा है, वह पूरब की तरफ बहेगा; जो आदमी नर्मदा में बह रहा है, वह पश्चिम की तरफ बहेगा। लेकिन दोनों नदी के साथ बह रहे हैं। दोनों एक हैं।

गीता को जो ठीक से समझेगा, गीता का और कुछ भी संदेश नहीं है, इतना ही संदेश है कि परमात्मा की धारा के विपरीत मत बहना; स्वभाव के अनुकूल बहना। इसलिए कृष्ण बार—बार कहते हैं, स्वधर्मे निधन श्रेय:। वह जो स्वयं का, भीतर का आत्यंतिक धर्म है, उसमें मर जाना भी बेहतर। परधमों भयावह:। और दूसरे का धर्म, वह चाहे सफलता ले आए, जीवन दे, तो भी भयपूर्ण है। उसमें मत जाना।

स्वभाव में बहने का अर्थ परमात्मा में समर्पित होकर बहना है। स्वभाव यानी परमात्मा, जिसको लाओत्से ताओ कहता है।

आखिरी प्रश्न : आप कहते हैं, साक्षी— भाव से निमित्त मात्र होकर यदि कोई हत्या भी करे, तो उसे न कर्म —बंध होगा और न कोई पाप लगेगा। लेकिन किसी भी प्राणी को कष्ट देने पर या उसकी हत्या करने पर उस प्राणी को पीड़ा तो होगी ही, तो उसके दुख की तरंगों का कार्य—कारण के नियमानसार क्या परिणाम होगा?

यह थोड़ा—सा सूक्ष्म, लेकिन समझने योग्य और अत्यंत जरूरी सवाल है। बात बिलकुल ठीक है। तुम ज्ञान को उपलब्ध हो गए। परम की मर्जी यही थी कि तुम युद्ध में जाओ, तुम गए। तुमने अर्जुन की तरह महाभारत का युद्ध। किया। उसमें लोग मरे। तुमने काटे। उनको पीड़ा हुई।

तुम्हारे ज्ञान से उनकी पीड़ा तो न रुकेगी। तुम साक्षी— भाव से कर रहे हो, इससे उन्हें मरने में कोई मजा तो न आएगा। मरने में तो पीड़ा ! उतनी ही होगी। तुम चाहे साक्षी— भाव से करो, चाहे तमस— भाव से। करो, तुम चाहे परमात्मा पर छोड़कर करो, चाहे खुद करो, मरने वाले को तो इससे कोई फर्क न पड़ेगा। वह तो दोनों हालत में पीड़ित होगा। तो सवाल यह है कि उसे जो पीड़ा हो रही है, उसका क्या परिणाम होगा?

उसका परिणाम होगा, उसी को होगा। पीड़ा उसको हो रही है,। वही जिम्मेवार है। अब इसे तुम थोड़ा समझो।

ऐसा समझो कि अर्जुन मारने वाला है, बुद्ध मरने वाले हैं। तो क्या बुद्ध को पीड़ा होगी? अर्जुन मारेगा परम की मर्जी के अनुसार; बुद्ध मरेंगे परम की मर्जी के अनुसार, पीड़ा की घटना ही न घटेगी। तो अगर तुम मारे जा रहे हो अर्जुन से

और तुम्हें पीड़ा हो रही है, तो जिम्मेवार तुम हो, अर्जुन नहीं। अर्जुन तो जिम्मेवार तब है, जब वह मार रहा हो, जब वह स्वयं मार रहा हो, अपनी आकांक्षा से मार रहा हो, तब जिम्मेवार है, तब कर्म का बंध उसे होगा।

और ध्यान रखना, अगर अर्जुन बुद्ध को मार रहा हो और अपनी इच्छा से मार रहा हो, और बुद्ध को पीड़ा भी न हो, तो भी उस पीड़ा का, जो कभी नहीं हुई, उसका पाप—बंध अर्जुन को होगा।

अहंकार ने मारा; तो मारने की जो धारणा है अर्जुन की कि मैं मार रहा हूं वही उसके पाप—बंध का कारण होगी। बुद्ध को पीड़ा हुई या नहीं हुई, यह सवाल ही नहीं उठता। तुमने मारने की आकांक्षा की, तुमने मारा, तुमने परमात्मा के हाथ में अपने को न

छोड़ा, तुम कर्ता रहे, तो तुम्हें कर्म का बंध होगा।

फिर तुम्हारे मारने से जो आदमी मर रहा है, उसकी पीड़ा के लिए वही जिम्मेदार है। क्योंकि यह भी हो सकता, अगर वह साक्षी—रूप हो, तो पीड़ा न हो। तो वह देखे कि मरना घट रहा है, लेकिन पीडा से लिप्त न हो। अगर वह लिप्त हो रहा है, तो स्वयं ही जिम्मेवार है।

तुम्हारे मारने से.....। अगर तुमने परमात्मा पर छोड्कर किसी को मारा, इसे ध्यान रखना। और तुम ऐसा सोच मत लेना कि जिसको भी तुम मार रहे हो, परमात्मा पर छोड्कर मार रहे हो। इतना आसान नहीं है। धोखा देना आसान है। तुम बिलकुल ठीक भीतर पहचान सकते हो कि तुम मार रहे हो या परमात्मा के द्वारा यह कृत्य किया जा रहा है।

अगर मारने के द्वारा कोई भी पिछला प्रतिशोध लिया जा रहा है, तो तुम मार रहे हो, परमात्मा का क्या प्रतिशोध! अगर मारने के द्वारा भविष्य की कोई फलाकांक्षा की जा रही है, तो तुम मार रहे हो, परमात्मा को भविष्य से क्या लेना—देना! अगर यह आदमी मर जाएगा तो तुम प्रसन्न होओगे, न मरेगा तो अप्रसन्न होओगे, तो तुम मार रहे हो, परमात्मा को प्रसन्नता—अप्रसन्नता क्या!

अगर तुम्हें न कोई अतीत की आकांक्षा हो कि कोई प्रतिशोध ले रहे हो, न भविष्य का कोई सवाल हो कि किसी फल की कोई आकांक्षा है, न हार जाओ, जीत जाओ, कोई फर्क पड़े, तो समझना कि परमात्मा की मर्जी तुम पूरी कर रहे हो, तुम निमित्त मात्र हो। वैसी दशा में अगर यह आदमी मरते वक्त दुख पाता है, पीड़ा पाता है, तो यह इसका अशान है। यह अपने शरीर को समझ रहा है कि मैं हूं। इसलिए शरीर के कटने को समझता है कि मैं मर रहा हूं। यह इस अज्ञान के कारण दुख पा रहा है और इस दुख के कारण भविष्य में और दुख अर्जन करेगा, और अज्ञान घनीभूत करेगा, और पीड़ित होगा। तुम इसके बिलकुल बाहर हो गए; तुम्हारा इससे कुछ लेना—देना नहीं है।

अब सूत्र:

तथा हे भारत, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ये तीनों तो कर्म के प्रेरक लै अर्थात इनके संयोग से तो कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है। और कर्ता, करण और क्रिया, ये तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात इनके संयोग से कर्म बनता है।

उन सब में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्य ने तीन प्रकार के कहे हैं, उनको भी तू मेरे से भली प्रकार सुन। दो वर्तुल हैं तुम्हारे जीवन के। भीतर का वर्तुल है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय। वह विचार का वर्तुल है, जहां तुम जानने वाले हो, जहाकुछ जाना जाता है और जहां दोनों के बीच में ज्ञान घटता है। जब तुम कुछ भी नहीं कर रहे हो, तब भी तुम ज्ञाता होते हो, ज्ञान घटता है, गेय होता है। तुम्हारे अकृत्य में भी विचार का कृत्य तो जारी रहता है। इसलिए विचार तुम्हारे भीतर का कृत्य है।

ज्ञाता का अर्थ है, कर्ता, विचार का कर्ता, विचारक। ज्ञेय का अर्थ है, जिस पर तुम अपने ज्ञाता को आरोपित करते हो, आब्जेक्ट, विषय। और दोनों के बीच जो घटना घटती है, वह ज्ञान। यह तुम्हारे मन की प्रक्रिया है।

तो पहली परिधि तुम्हारे आत्मा के आस—पास मन की है; एक वर्तुल। फिर दूसरा वर्तुल तुम्हारे शरीर का है। शरीर में दूसरा वर्तुल है कर्ता, करण और क्रिया का। जब विचार कृत्य बनता है, तब तुम कर्ता हो जाते हो। कोई उपकरण, हाथ, आंख करण बन जाते हैं। और बाहर के जगत में कृत्य घटित होता है। कर्ता, करण और किया, यह तुम्हारा दूसरा वर्तुल है।

ऐसा समझो कि मध्य का बिंदु, केंद्र, तुम्हारी चेतना है। उसके बाद पहला धुआं इकट्ठा होता है विचार का, ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान। फिर जब धुआं और भी सघन हो जाता है, ठोस हो जाता है, तो कृत्य का जन्म होता है, तब कर्ता, करण और क्रिया।

संसार से तुम्हारा संबंध कर्म का है। इसलिए जब तक तुम कुछ कर्म न करो, तब तक अदालत तुम्हें नहीं पकड़ सकती। अगर तुम बैठकर रोज हजारों लोगों की हत्या करते हो विचार में, तो कोई अदालत तुम पर मुकदमा नहीं चला सकती। वह यह नहीं कह सकती कि यह आदमी रोज बैठकर बिना हजार की हत्या किए नाश्ता नहीं करता! मजे से करो, कोई मनाही नहीं है। और तुम अदालत के सामने वक्तव्य भी दे सकते हो कि मैं रोज एक हजार की हत्या करके, फिर नाश्ता करता हूं लेकिन विचार में।

समाज का विचार से कोई लेना—देना नहीं है। तुम समाज की परिधि में उतरते ही तब हो, जब विचार कृत्य बनता है। जब विचार कृत्य बन जाता है, तब तुम्हारा संबंध दूसरे से जुड़ा। शरीर हमें दूसरे से जोड़ता है। इसे तुम ठीक से समझो।

मन तुम्हारी आत्मा को शरीर से जोड़ता है। इसलिए जब तक तुम ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के बीच उलझे हो, तुम्हारा संबंध शरीर से बना रहेगा; वह सेतु है। फिर कर्म तुम्हें अपने शरीर को दूसरों के शरीरों से जोड़ता है, संसार से जोड़ता है। संसार और समाज तुम्हारे कर्म की चिंता करते हैं।

इसलिए अदालत उस बात को पाप कहती है, जो कृत्य हो जाए। विचार में घटे पाप को पाप नहीं कहती, अपराध नहीं कहती। लेकिन धर्म? धर्म तो उसको भी पाप कहता है, जो तुम्हारे भीतर विचार में घटे। यही अपराध और पाप का भेद है।

अपराध ऐसा पाप है, जो कृत्य बन गया; और पाप ऐसा अपराध है, जो केवल विचार रह गया। जहां तक तुम्हारा संबंध है, विचार करने से ही कृत्य हो गया। तुम उतने ही पाप के भागीदार हो गए विचार करके भी, जितना तुम करके होते, यद्यपि दूसरा तुमसे अप्रभावित रहा। दूसरे पर प्रभाव तो तब पड़ेगा, जब तुम विचार को कृत्य बनाअईागे।

तो समाज तुम्हारे कृत्य पर रोक लगाता है, धर्म तुम्हारे विचार पर। समाज की नीति सिर्फ इसी बात पर निर्भर है कि तुम शुभ कर्म करो, अशुभ कर्म मत करो। धर्म की चितना इस पर है कि तुम शुभ विचार करो, अशुभ विचार मत करो।

धर्म ज्यादा गहरे जाता है। क्योंकि अंततः अशुभ विचार ही अशुभ कर्म बन जाएगा किसी दिन। वह बीज है, अभी दिखाई नहीं पड़ता, सूक्ष्म है। फिर वह प्रकट होगा।। फिर वह वृक्ष बनेगा। फिर उसमें शाखाओं पर शाखाएं निकलेंगी और वह फैल जाएगा। और उसका जहर अनेकों लोगों के जीवन को प्रभावित करेगा।

इसलिए इसके पहले कि कोई विचार कृत्य बने, उसे विचार के जगत में ही शून्य कर दो। वही आसान भी है। बीज को मिटाना बहुत आसान है, वृक्ष को मिटाना मुश्किल हो जाएगा। वृक्ष बड़ी शक्ति बन जाता है। विचार को लौटा लेना आसान है, कृत्य को लौटाना मुश्किल हो जाएगा। वह छूटा हुआ तीर है। वह फिर वापस कैसे लौटेगा?

ये दो वर्तुल हैं। और इन दोनों वर्तुलों से जो मुक्त हो जाता है, वही साक्षी है। जब तुम कृत्य के भी देखने वाले हो जाते हो और कर्ता नहीं रह जाते और तुम विचार के भी देखने वाले हो जाते हो और ज्ञाता नहीं रह जाते, तुम मात्र साक्षी हो जाते हो। इसे थोड़ा समझना। बहुत—से लोग साक्षी और जाता का अर्थ एक—सा ही कर लेते हैं। वे उसे पर्यायवाची

समझते हैं। वे भूल में हैं। ज्ञाता तो कर्ता हो गया। उसने कहा, मैंने जाना। मैंने किया, तो कर्ता हो गए; मैंने जाना, तो भी कर्ता हो गए, सूक्ष्म में। मैंने सोचा। मैं आ गया। ज्ञाता भी कर्ता का सूक्ष्म रूप है।

साक्षी सबके पार है। साक्षी में कोई मैं— भाव नहीं है। न तो जाना, न किया, सिर्फ देखते रहे। साक्षी में द्रष्टा तक भी नहीं है, क्योंकि द्रष्टा जैसे कहा, फिर कर्ता बना।

साक्षी बड़ा अनूठा शब्द है। उसमें कर्ता का भाव बिलकुल नहीं है। द्रष्टा में देखने का भाव आ गया, कि देखा। तत्काल तीन हो गए। देखा, द्रष्टा बने, तो दर्शन और दृश्य।

साक्षी सबका अतिक्रमण कर जाता है। तुम सिर्फ हो; न तुम करते, न तुम देखते, न तुम सोचते। सारी क्रियाएं शून्य हो गईं। जो साक्षी में जीता है, वही कर्म करते हुए अकर्म में जीता है। देखते हुए देखता नहीं, जानते हुए जानता नहीं, सिर्फ होता है। यह शुद्धतम अस्तित्व है। यह आत्यंतिक परिशुद्धि की धारणा है।

कृष्ण कहते हैं, सांख्य ने शान, कर्म और कर्ता को भी तीन गुणों के अनुसार विभाजित किया है। तू उन्हें भी मुझसे भली प्रकार सुन। जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक—पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मा को विभागरहित, समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्विक जान।

सांख्य का एक सुनिश्चित सिद्धांत है कि प्रत्येक चीज तीन—रूपी होगी, क्योंकि सारे अस्तित्व की सभी चीजें त्रिगुण से बनी हैं। तो वह विभाजन हर जगह करते हैं। और वह विभाजन कीमती है। उससे साधक को साफ सीढियां हो जाती हैं, कैसे आगे बढ़ना। सत्व कहते हैं उस ज्ञान को, जब सब जगह अनेक रूपों में एक ही दिखाई पड़ने लगे। रूप हों अनेक, नाम हों अनेक, सभी नामों में एक ही अनाम की प्रतीति होने लगे और सभी रूपों में एक अरूप झलकने लगे, सभी आकार एक ही निराकार की तरंगें मालूम होने लगें, तब शान सात्विक। जब अनेक में एक दिखाई पड़े, तो शान सात्विक।

और जब मनुष्य संपूर्ण भूतों में अनेक— अनेक भावों को न्यारा—न्यारा करके जानता है, उस शान को राजस जान।

और जब अनेक अनेक की भांति दिखाई पड़े! अनेक एक की भांति दिखाई पडे, तो सत्व। अनेक अनेक की भांति दिखाई पड़े, तो राजस। भेद दिखाई पडे, द्वंद्व दिखाई पड़े, विरोध दिखाई पड़े, सीमाएं दिखाई पड़े, तो राजस।

क्षत्रिय की सारी जीवन— धारा सीमा से बंधी है। वह लड़ता है सीमा के लिए। सीमा को बडा करने की चेष्टा में लगा रहता है। पर सीमा है।

ब्राह्मण का सारा जीवन असीम से बंधा है। लड़ने का कोई उपाय नहीं है। सीमा बनाने की कोई सुविधा नहीं है। परिभाषा करना गलत है।

फिर तीसरा है तमस से भरा हुआ व्यक्ति। तीसरे व्यक्ति को हम ऐसा समझें कि उसे न तो एक दिखाई पड़ता, न अनेक दिखाई पड़ते; उसे दिखाई ही नहीं पड़ता। वह अंधा है। जैसे दीया बुझा है। दीया तो रखा है, पर ज्योति नहीं है। तो नाम मात्र का दीया है, उसको क्या दीया कहना! मिट्टी का दीया रखा है, तेल भरा है, बाती लगी है, पर ज्योति नहीं है।

फिर ज्योति जलती है। थोड़ा—सा प्रकाश होता है। अंधेरे में चीजें नहीं दिखाई पड़ती थीं, अब अनेक चीजें दिखाई पड़ने लगती हैं; थोड़ा—सा प्रकाश है। इस थोड़े—से प्रकाश में अनेक का अनुभव होता है।

फिर महाप्रकाश का जन्म है। जहां दीए की बाती, दीया, तेल, सब खो जाते हैं। बिन बाती बिन तेल! तब सिर्फ प्रकाश रह जाता है। उस प्रकाश में सभी रूप लीन हो जाते हैं।

तमस यानी अंधकार। इस शब्द का अर्श भी अंधकार है। सत्व का अर्थ, प्रकाश। सत्व का अर्थ है, जहां परम प्रकाश हो गया। तमस का अर्थ है, जहां परम अंधकार है। अंधकार में कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। न एक, न अनेक। सत्य में सब कुछ दिखाई पड़ता है और इतनी गहराई से दिखाई पड़ता है कि परिधियों में जो अनेकता है, वह खो जाती है और केंद्र की एकता अनुभव होने लगती है। और दोनों के मध्य में है राजस। कुछ दिखाई पड़ता है, कुछ नहीं भी दिखाई पड़ता। कुछ अंधेरा है, कुछ प्रकाश है। प्रकाश—अंधेरे का तालमेल है। तो सीमाएं दिखाई पड़ती हैं, अनेक दिखाई पड़ता है।

ये तीन चित्त की दशाएं हैं। तुम कहां हो, अपने को ठीक से पहचान लेना चाहिए, क्योंकि वहीं से तुम्हारी यात्रा हो सकेगी।

अगर तुम तमस में हो, तो घबड़ाना मत। अगर यह भी तुम्हें समझ में आ जाए कि मैं तमस में हूं तो राजस शुरू हो गया। क्योंकि इतना बोध भी दीए में थोड़ी रोशनी आने से शुरू होता है। अगर तुम्हें ऐसा लगे कि मैं तमस में हुं, घबडाना मत। जो भी सत्व को उपलब्ध हुए हैं, सभी तमस से गए हैं। तमस में होने का अर्थ है, तुम अभी गर्भ में हो। बस, कुछ घबड़ाने की बात नहीं। जन्म होगा। थोड़ा जागो। थोडे होश को सम्हालो। तमस से उठो। ऊर्जा को उठाओ। रजस का जन्म शुरू हुआ।

रजस यानी ऊर्जा, शक्ति। थोड़ा हिलो—डुलो। थोड़ा जीवन में गति लाओ। अगति में मत पड़े रहो। थोड़ा घूमो आस—पास, देखो। अनेक का जन्म होगा।

जैसे ही अनेक का जन्म हो जाए, फिर एक—एक में थोड़ा गहरा देखना शुरू करो कि वस्तुत: अनेक हैं या सिर्फ दिखाई पड़ते हैं।

जैसे सागर के पास खडे रही, कितनी लहरें दिखाई पड़ती हैं! फिर हर लहर में गौर से देखो, तो वही सागर है, एक ही सागर है। ऊपर से जो अनेक दिखाई पड़ता है, वह भीतर से एक है। फिर सत्व का जन्म होता है।

और इन तीनों के पार है साक्षी। इसलिए उसको हमने तुरीय कहा है, चौथा। सत्व को भी मंजिल मत समझ लेना। क्योंकि तुम कहते हो कि हमें लहरों में सागर दिखाई पड़ता है, पर अभी लहरें भी दिखाई पड़ती हैं। अभी ऐसा नहीं हुआ कि सागर ही सागर हो गया हो। लहरों में सागर दिखाई पड़ता है। नामों में अनाम दिखाई पड़ता है, रूप में अरूप दिखाई पड़ता है, पर रूप भी दिखाई पड़ता है। फिर इन तीनों के पार तुम हो, वह जो साक्षी है।

जैसे कभी अंधेरा दिखाई पड़ा, फिर अंधेरा चला गया। फिर थोड़ी रोशनी आई, जिससे अनेक का जगत फैला, संसार का फैलाव हुआ, दुकान खुली, पसारा फैला, बहुत कुछ दिखाई पड़ा। जन्मों—जन्मों उसमें यात्रा की। फिर अनुभव गहरा हुआ। सत्य की प्रतीति हुई, प्रकाश सघन हुआ; अनेक में एक की झलक आने लगी। वह भी दिखाई पड़ा।

लेकिन जिसको ये तीनों दिखाई पड़े, जो इन तीनों से गुजरा, वह चौथा है। इसलिए हम उस चौथी अवस्था को गुणातीत कहते हैं। ये तीन तो गुण की अवस्थाएं हैं, चौथी गुणातीत है। इन तीन से गुजरना है और चौथे को पाना है। और जब तक चौथी न आ जाए, तब तक रुकना मत। तब तक कहीं ठहरना पड़े, तो ठहर जाना, रातभर का विश्राम कर लेना। सराय समझना।

तमस को तो समझना ही सराय, सत्य को भी सराय ही समझना। असाधु को तो छोड़ना ही है, साधु को भी छोडना है। झूठ को तो छोड़ना ही है, सत्य को भी छोड़ना है। क्योंकि अंततः पकड ही छोड़नी है। और एक ऐसी चैतन्य की अंतिम अवस्था में आ जाना है, जहां न तो पकड़ने वाला है, न पकड़ने को कुछ है। सिर्फ बोध—मात्र है।

उसको महावीर ने कैवल्य कहा, उसको बुद्ध ने शून्य कहा, उसको पतंजलि तुरीय कहते हैं, उसको कृष्ण गुणातीत अवस्था कहते हैं।